भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प नं.

ॐ
सिद्धेभ्य

आचार्यश्री जटासिंहनन्दी विरचित

# वरांगचरित्र

हिन्दी अनुवाद :
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट**
**सोनगढ़ ( सौराष्ट्र )**

**प्रथमावृत्ति** - १००० प्रति

**मूल्य** - १० रुपये

**टाईप सेटिंग :**
विवेक कम्प्यूटर्स,
अलीगढ़

**मुद्रक :**
स्मृति ऑफसेट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

# प्रकाशकीय

आचार्यश्री जटासिंहनन्दि विरचित वरांगचरित्र नामक प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

निकट मोक्षगामी महा पुण्यशाली वरांग को जीवन में अनेक प्रकार की असाता भोगनी पड़ती है, तथापि समतापूर्वक किस प्रकार रहता है! तथा साता के उदय के समय कितनी वैराग्य भावना पूर्वक दीक्षित होता है! – इत्यादि वर्णन पढ़कर पाप के उदय में हताश नहीं होना और पुण्य के उदय में आत्महित के लक्ष्यपूर्वक जीवन जीना – इत्यादि धर्मभावना की विशेष प्रेरणा मिलती है।

सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में चारों अनुयोगों का उपदेश होता है, उसमें प्रथम अनुयोग का नाम प्रथमानुयोग है। द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग में जो वर्णन है, उसकी दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्धि, प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग के अभ्यास से तीनों अनुयोगों का समझना सरल बनता है।

प्रथमानुयोग के अभ्यास से—

❖ पुराण-पात्रों के प्रसंग पढ़ने-विचारने से दृढ़ता होती है कि क्रमबद्ध अनुसार – होनहार अनुसार परिणमते हुए परिणमन काल में उसके योग्य पुरुषार्थ होता ही है; क्रमबद्ध अनुसार पुरुषार्थ होता ही है, कर्तृत्वपूर्वक करना नहीं पड़ता परन्तु सहजरूप से उसके योग्य पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता, इसलिए मुझे कर्तृत्वपूर्वक पुरुषार्थ करने का बोझा भी नहीं रहता। मैं तो मात्र ज्ञातारूप से रहता हुआ एक ज्ञायकभाव हूँ।

❖ जीवों के भूतकाल के और भविष्य काल के निश्चित परिणामों का वर्णन जानकर क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा द्वारा अकर्तास्वभाव के सन्मुख हुआ जाता है।

❖ संसारी जीवों के पापमय परिणामों होने पर भी उनकी क्षणिकता समझने से स्वभाव में संसार की गन्ध भी नहीं है, ऐसा महिमावन्त ज्ञायक मैं हूँ – ऐसी दृढ़ता होती है।

❖ एक जीव दूसरे जीव पर क्रोध करे तो उसके संस्कार भव-भव तक रहते हैं, राग करे तो उसके संस्कार भी भव-भव तक नहीं छूटते और कुदेव-गुरु-धर्म के सेवन से नरक-निगोद में चिरकाल भ्रमण करके फिर से मनुष्य होने पर कुधर्म के संस्कार पुनः जागृत हो जाना जानकर, जीव को वीतरागधर्म की आराधना की विशेष जागृति रहती है।

भगवान महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि में से प्रवाहित और कुन्दकुन्दादि वीतरागी दिगम्बर सन्तों द्वारा गृहित गम्भीर वचनों का रहस्य समझानेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबहिन के आत्मसाधना से स्वर्णपुरी आज विश्वधरा पर अध्यात्म तीर्थधाम के रूप में सुविख्यात हुआ है। दोनों उभय ज्ञानी-धर्मात्माओं के अन्तःस्थल में पुराण पुरुषों के प्रति व्याप्त अहोभाव उनके प्रवचनों एवं तत्त्वचर्चाओं में अभिव्यक्त हुआ है, उसी से प्रेरणा पाकर स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ द्वारा अनेक पौराणिक ग्रन्थों एवं कथासाहित्य का प्रकाशन किया गया है। प्रस्तुत प्रकाशन भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। तदर्थ उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। मुद्रण कार्य के लिये स्मृति ऑफसेट सोनगढ़ के प्रति आभारी हैं।

सभी जीव वरांगचरित्र के माध्यम से आत्महित की प्रेरणा प्राप्त करें, इसी भावना के साथ....

**साहित्य प्रकाशन समिति**
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

ॐ
सिद्धेभ्य

## आचार्यश्री जटासिंहनन्दी विरचित

# ❁ वरांगचरित्र ❁

इस विश्व में विनीत नामक एक देश था। वह अपने भोग-उपभोग की सम्पत्ति के कारण देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि के समान प्रतीत होता था। उस देश में बड़े-बड़े ज्ञानी और उदार पुरुष निवास करते थे।

इस विनीत देश में सौम्याचल नामक पर्वत था, जिसके ऊँचे-ऊँचे शिखर हिमालय की समानता करते थे। ऐसे सौम्याचल पर्वत में से जगत् प्रसिद्ध रम्या नामक नदी निकलती थी। इस रम्या नदी के दक्षिण किनारे पर एक विशाल समतल भूमि खण्ड था। इसी समतल भू-खण्ड पर जगत् प्रसिद्ध रम्यातट नामक नगर बसा हुआ था। रम्या नदी के किनारे यह नगर बसने से ही इसका नाम रम्यातट प्रसिद्ध हुआ था, तथापि इस नगर की समृद्धि और विशेषताओं को देखकर कुशल पुरुषों ने इसका दूसरा नाम उत्तमपुर रखा था। इस नगर के दूसरे भी अनेक नाम इसके गुणों के कारण विख्यात थे।

इस उत्तमपुर के महाराज धर्मसेन विश्वविख्यात थे। वे विश्व-प्रसिद्ध भोजवंश में उत्पन्न हुए थे। धर्म, अर्थ और काम - तीनों पुरुषार्थों का मर्यादापूर्वक पालन करने और कराने में कुशल थे। उनके मन में यह विचार सदा चला करता था कि प्रजा का

न्यायपूर्वक पालन-पोषण हो। उन्हें गुरुजनों की सेवा करने का व्यसन था। प्रमाद, अहंकार, मोह और द्वेष जैसे अवगुण उनके समक्ष आते ही नहीं थे। उन्हें सज्जनों और भली वस्तुओं के संग्रह का रोग था। वे मधुर भाषी होने के साथ-साथ निर्लोभी भी थे। साहसिकता और कार्यकुशलता उनके रोम-रोम में समाहित थी। वे अपने बन्धु-बान्धवों के परम हितैषी थे।

महाराज धर्मसेन के अन्त:पुर में तीन सौ रानियाँ थीं। वे सभी रानियाँ स्त्रियोचित लज्जा की मूर्ति थीं, विनम्रता और कुलीनता तो उनके रोम-रोम में व्याप्त थी। वे सभी रानियाँ अपने पति को प्रिय थीं और स्वयं भी पति से गाढ़ प्रेम करती थीं। सभी रानियों में समानता होने पर भी, उन सबमें गुणवती रानी ऐसी चमकती थी कि जैसे तारों के मध्य चन्द्रमा सुशोभित होता है; उसका शरीर और मन परम पवित्र था।

प्रजापालक महाराज धर्मसेन के समस्त ही मनोरथ पुण्य के प्रताप से पूर्ण हो जाते थे। उनकी प्राणप्रिय श्रेष्ठ रानी गुणवती ने वरांग नामक पुत्र को जन्म दिया। कुमार वरांग के जन्म से ही माता-पिता को आह्लाद अन्तर में नहीं समाता था। राजपुत्र के शरीर पर अनेक शुभ लक्षण स्पष्ट दिखाई देते थे। किशोर अवस्था से ही वरांगकुमार सदा सच्चे देव की पूजा और मन-वचन-काया से गुरु का विनय करता था। कुमार वरांग लेख, व्याकरण, काव्य, संगीत इत्यादि समस्त कलाओं में पारंगत था। दिन-रात हाथी-घोड़े की सवारी और शस्त्र विद्या का अभ्यास करने में तल्लीन रहता था। छल-कपट, प्रमाद, अहंकार, लोभ आदि दुर्गुण उसमें नहीं थे। तदुपरान्त शिकार, जुआ, वैश्यागमन आदि

सात व्यसनों को भी बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया था।

राजपुत्र वरांग के उदार गुणों का विचार करके तथा उसके सुन्दर शरीर और यौवन के प्रथम उन्मेष को देखकर एकाएक माता-पिता को विचार आया कि क्या कोई राजकुमारी वरांग के समान सुन्दर और शरीर से स्वस्थ होगी ? जिस समय राजा-रानी उक्त विचार में मग्न थे, उसी समय मानों वरांग के गुणों से प्रेरित होकर नगर का कोई सेठ राजमहल में आ पहुँचा। राजकुमार को देखकर उसका स्नेह प्रस्फुटित हो उठा।

सेठ ने महाराज धर्मसेन को प्रणाम करके कहा कि 'हे महाराज! समृद्धपुरी के एकछत्र राजा घृतिसेन अपरिमित वैभव और सम्पत्ति के अधिपति हैं। साथ ही जहाँ तक कुलीनता, स्वभाव, संयम, तेज, पराक्रम, विद्या, बुद्धि, धर्म, कर्तव्यपालन, न्याय और नीति का सम्बन्ध है, वे सब प्रकार से आपके समान ही हैं। महाराज घृतिसेन की अतुला नामक पटरानी है, उन दोनों के सुनन्दा नामक राजपुत्री है, जो कान्ति, कीर्ति, दया इत्यादि सब गुणों का भण्डार होने पर भी अत्यन्त विनम्र और शिष्ट है। ऐसा लगता है मानों देव कन्या ही पृथ्वी पर अवतरित हुई है।'

सेठ के अत्यन्त अर्थपूर्ण गम्भीर और मनोहर वचन सुनकर महाराज ने उसका यथायोग्य आदर-सम्मान करके विदाई प्रदान की। सेठ को विदा देकर राजा अपनी मन्त्रशाला में गया। महाराज के बुलाने से अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नामक प्रधान पण्डित मन्त्री मन्त्रशाला में पहुँच गये। सर्व प्रथम उनकी कुशलता पूछकर, तत्पश्चात् महाराज धर्मसेन ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा—

'हे मन्त्रीवर! राजकुमार वरांग सर्व विद्याओं, व्यायामों, नीतिशास्त्र में पारंगत है। गुरुजनों और वृद्धजनों की सेवा में उसे अत्यन्त प्रेम है, वह कितना बुद्धिमान् और पुरुषार्थी है, यह आप लोग मुझसे अधिक जानते हैं। उसके साहस, वीरता, सेवापरायणता और सहानुभूति आदि सद्गुण तो ऐसे हैं कि उसे सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र राजा होना चाहिए। उसके अङ्ग-अङ्ग में से प्रस्फुटित सौन्दर्य का विचार करने पर वह दूसरा कामदेव हो - ऐसा लगता है। इसलिए अब अपने को उसके विवाह की चिन्ता करना चाहिए।'

मन्त्रीगण स्वयं भी राजपुत्र वरांग को पुत्र के समान प्रेम करते थे और आदरपूर्ण व्यवहार करते थे। महाराज के प्रस्ताव के अनुकूल सबने अलग-अलग अपनी सम्मति प्रस्तुत की। सभी मन्त्रियों की बात सुनने के पश्चात् राजा ने उनसे मिलने आये सेठ की बात कही। राजा की बात सुनकर सभी ने एकमत होकर महाराज घृतिसेन के नगर की ओर कुमार वरांग सहित प्रयाण किया।

महाराज धर्मसेन के चारों प्रधानमन्त्रियों ने महाराज घृतिसेन के पास जाकर कुमार वरांग के साथ उनकी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा। महाराज घृतिसेन ने मन्त्रियों के कथन पर विचार करके तथा अपनी पुत्री की युवावस्था को दृष्टिगत रखकर, मन्त्रियों से कहा कि 'तुम कहते हो वैसा ही होगा।' तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

समस्त ही धार्मिक एवं सामाजिक विधि-विधानों के विशेषज्ञ राजा ने घर की समस्त विधियों तथा संस्कारों को पूर्ण करके

निर्धन और दु:खी लोगों को भरपूर दान प्रदान किया। तत्पश्चात् अपार सम्पत्ति और ठाठ-बाट से राजकुमारी को पालकी में बैठाकर महाराज घृतिसेन, उत्तमपुर की ओर रवाना हुए।

चन्द्रमा के समान सर्व प्रिय तथा प्रजा के हितैषी बड़े-बड़े अन्य राजा भी मानों वरांगकुमार के पुण्य से प्रेरित होकर अपनी-अपनी गुणवती और सुन्दर कन्याओं के साथ उत्तमपुर की तरफ रवाना हुए। आठों दिशाओं से अनुक्रम से पुष्पमती, यशोवती, वसुन्धरा, अनंगसेना, प्रियपताका, सुकेशिका, विश्वसेना तथा प्रियकारणी उत्तमपुर जा रही थी। नगर सेठ धनदत्त भी अपनी पुत्री को लेकर आया था। वे समस्त राजकन्यायें स्वास्थ्य, सदाचार, शिक्षा आदि गुणों द्वारा समस्त प्रकार से महाराज घृतिसेन की राजपुत्री सुनन्दा के समान ही थीं और उसके समान ही उनका चरित्र उज्ज्वल और उदार था।

इसी अवसर पर महाराज धर्मसेन ने कुमार वरांग का युवराज पद-अभिषेक करने का निर्णय किया था। इसलिए उनकी आज्ञा से राजभवन के विशाल आँगन में 'कामकरण्डक' नामक अत्यन्त कलापूर्ण श्रीमण्डप का निर्माण किया गया।

कुमार वरांग, स्वभाव से ही इतने सुन्दर थे कि कोई भी व्यक्ति रूप और कान्ति में उनकी समानता नहीं कर सकता था। तथापि अभिषेक, विवाह आदि माङ्गलिक कार्यों के कारण उस समय उनके शरीर पर विविध लेप लगाया गया था, जिससे पूरा शरीर सौन्दर्य से दैदीप्यमान हो गया था, तत्पश्चात् उन्हें मङ्गल विधि के लिये सिंहासन पर बैठाया गया और उनका अभिषेक किया गया तथा उत्तम मुहूर्त में दशों ही राजकन्याओं का वरांगकुमार

के साथ पाणिग्रहण कराया गया। विवाह के पश्चात् जिस प्रकार देवताओं का अधिपति इन्द्र ज्वाल्यमान मणियों की ज्योति से प्रकाशमान पर्वतराज सुमेरु पर जिस तरह आकाशचारिणी अप्सराओं के साथ गमन करता है, उसी प्रकार पृथ्वी के इन्द्र महाराज धर्मसेन का पुत्र वरांगकुमार अपनी प्राणबल्लभाओं के साथ उत्तम उद्यानों में तथा केलीवन में रति विहार करता था।

❖ ❖ ❖

एक बार भगवान श्री नेमिनाथ के प्रधान गणधर वरदत्त मुनिराज केवलज्ञान को प्राप्त होने के बाद वे उत्तमपुर नगर के मनोहर नामक उद्यान में पधारे। उनका आगमन होने पर उन्हें देखकर उद्यान के माली का चित्त गद्‌गद् हो गया। वह बिना विलम्ब किये शीघ्र ही महाराज को यह शुभ समाचार देने के लिये पहुँचा। माली द्वारा यह शुभ समाचार सुनते ही राजा धर्मसेन ने सम्पूर्ण नगर में इस सम्बन्धी घोषणा करा दी और स्वयं सम्पूर्ण परिवार के साथ जाकर वरदत्त केवली की प्रदक्षिणा करके उनके चरणों में नमन किया। प्रभु को नमस्कार करने के पश्चात् हाथ जोड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक महाराज धर्मसेन ने कहा 'हे महाराज! मुझे धर्मरूपी अमृत का पान कराओ।'

मनुष्यों में अधिपति श्री धर्मसेन द्वारा इस प्रकार निवेदन करने पर, संसार-दुःखों से तृप्त जीवों को कल्याणमार्ग का उपदेश देनेवाले ऋषियों के राजा श्री वरदत्त केवली ने श्रोता समूह पर अनुग्रह करके इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'जो भव्यजीव, जैनधर्म-शास्त्ररूपी जल को, मत्सर आदि दोषहीन सद्‌बुद्धिरूपी पात्र में आदरपूर्वक भर लेता है और

परमश्रद्धा से पीता है, अर्थात् समझता है, वह जन्म-मरणरूप संसार महारणव को सरलता से पार करके मुक्त हो जाता है। इसलिए जो जीव अपने उद्धार के लिये व्याकुल हैं, उन सबको धार्मिक चर्चाओं का श्रवण और मनन करने में अपने रुचि को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिए, क्योंकि धर्म के तत्त्वों का सतत् अनुशीलन करके ही यह जीव जन्म-रोग-जरा-मरण आदि समस्त सांसारिक उत्पातों को जीतकर तीन लोक के लिये वन्दनीय हो जाता है।

इस संसार में समस्त प्रकार के भयों का भण्डार अज्ञान से बड़ा दूसरा कोई भय नहीं है। अज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई अभेद्य अन्धकार इस पृथ्वी पर नहीं है। यह अज्ञान इस जीव के समस्त शत्रुओं का महाराजा है। कोई भी निमित्त हजारों प्रयत्न करके भी अज्ञान से अधिक दु:ख नहीं दे सकते।

जिस प्रकार महावत के अंकुश की संकेत न माननेवाला मदोन्मत्त हाथी प्राण के ग्राहक शत्रुओं की सेना में घुसकर अपने ऊपर बैठे हुए योद्धा के साथ व्यर्थ प्राण गँवाता है; इसी प्रकार ज्ञानरूपी अंकुश से रहित चित्तवाला जीव व्यर्थ में ही जन्म-मरण के दु:ख सहन करता है।

जिस प्रकार जंगल में चारों ओर से लगी हुई दावाग्नि से

बचकर निकलने का प्रयत्न करता हुआ अन्धपुरुष फिर से उसी अग्नि में जा गिरता है; इसी प्रकार ज्ञान नेत्रों पर अज्ञानरूपी कालिमा का गाढ़ आवरण पड़ जाने से यह जीव भी दु:ख ज्वाला में जा पड़ता है।

संसार में अत्यन्त प्रचलित इन सभी दृष्टान्तों को अपनी बुद्धिरूपी आँख से भले प्रकार परखकर सत्य श्रद्धा से युक्त सम्यग्ज्ञानी पुरुषार्थी जीव, दुर्द्धर तप किये बिना ही साधारण तपस्या करके ही अपने अन्तिम लक्ष्य क्षायिक सुख के सागर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

संसार में जिन जीवों का पुण्य क्षीण हो जाता है, उन पर कुमति का एकाधिकार हो जाता है और उन्हें मिथ्यात्व का उपदेश ही रुचिकर लगता है; इस कारण वे धर्माचरण और उत्तमभावों के रहस्य को समझ ही नहीं सकते। फलस्वरूप बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में पड़कर अनन्त काल तक दु:ख भोगते हैं। इसलिए जिन जीवों की सद्बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, वे जीव, धर्मों में सर्वश्रेष्ठ सत्य जिनधर्म का आश्रय करें कि जो त्रिलोक के सुख का सारभूत मोक्षसुख की प्राप्ति कराता है और दुराचारपूर्ण लौकिक मार्ग को छोड़ दें, जिसमें सत्य का नाम भी नहीं है।

जो जीव प्रतिसमय दूसरे की द्रव्य अथवा भावहिंसा में लगे रहते हैं; जिन्हें मिथ्या बोलने में जरा भी खटक नहीं होती; दूसरे का धन चुराना जिनकी आजीविका बन गयी है; दूसरों की स्त्रियों की प्रतिष्ठा और सतीत्व को भंग करना जिनका स्वभाव हो गया है; विपरीत श्रद्धा जिनके विवेक को ढँक देती है; अति अधिक

आरम्भ और परिग्रह करना, जिनका व्यापार हो जाता है और जिनकी लेश्या-विचार तथा चेष्टा अत्यन्त कलुषित हो जाती है, ऐसे जीव नरक गति में जाकर दीर्घकाल तक दुःख भोगते हैं।

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों ही इन्द्रियों के अत्यन्त आकर्षक और सुखदायी जो स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, ये पाँच भोग्य विषयों को प्राप्त करने के लिये जो लोग निर्दय और नीच कर्म करते हैं, वे लोग अपने दुष्कर्म और अधर्मों के भार से दबकर एकदम नरक में गिरते हैं।

जो लोग इस संसार में दूसरों की पत्नियों से अथवा अन्य स्त्रियों से संगम करने के लिये अधीर रहते हैं, वे मरकर जब नरक में पहुँचते हैं, तब वहाँ उपस्थित अन्य नारकी तुरन्त ही उन पर विष मिश्रित लेप लगाते हैं, जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है। दूसरों की स्त्रियों से कामक्रिया करानेवाले को अथवा परस्त्री से निर्दयतापूर्वक सम्भोग करानेवाले को नारकी जीव ताम्र स्त्री बनाकर बलजोरी से उससे आलिंगन कराते हैं, जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर जलने लगता है। इस प्रकार अतिशय दुःख सहन करना पड़ते हैं।

**जो जीव, संसारी सम्पत्ति और भोग-विलास की सामग्री को प्राप्त करने के लिये आवश्यक समस्त ही कुकर्म अत्यन्त चाव से और तत्परता से करते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरों में प्राप्त होनेवाले दुःखों का पार नहीं पाते और सुदीर्घ काल तक नरकगति में ही रहते हैं।**

**जो पुरुष इस भव में मन द्वारा संसार की समस्त विभूति तथा भोगोपभोग सामग्री के विषय में विचारशील रहता है और**

**मानसिक परिग्रह की अभिवृद्धि करता है, वह मानसिक कल्पना का चक्रवर्ती ही सीधे नरक में जाता है, यह आश्चर्य की बात है!**

पतंगा, भ्रमर, हिरण, मछली और मस्त हाथी, जो कि एक-एक इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त लम्पट होते हैं, तथापि परिणाम यह आता है कि अपने परमप्रिय विषय को प्राप्त किये बिना ही स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तो फिर समस्त पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से जीव का समूल नाश हो जाता है तो इसमें कौन-सी अतिशयोक्ति है!!

इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का भोग करने से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख शहद से लिपटी तलवार को चाटने के समान है! दश प्रकार के कल्पवृक्षों के कारण भोगभूमि में जो एकान्तिक सुख प्राप्त होता है, वह सुख भी विष मिश्रित मिष्ट पकवान के भोजन के समान है परन्तु अनादि काल से बँधे हुए आठ कर्मों के बँधन को खण्ड-खण्ड कर देने के कारण तीन लोक के चूड़ामणि के समान उन्नत स्थान पर जाकर विराजमान सिद्ध जीवों के अतीन्द्रिय सुख की, हे राजन्! कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती! अनुपम सुख है!'

इस प्रकार वरदत्त केवली के वचन सुनते ही कुमार वरांग का मिथ्यात्व नष्ट हुआ और सप्त तत्त्व की सच्ची श्रद्धा हुई। उसने हाथ जोड़कर भगवान से कहा—

हे प्रभु! मैं उग्र तपस्या में अडिग रह सकूँ, इतनी शक्ति मुझमें नहीं है। इसलिए मुझे अनुव्रत प्रदान करने का अनुग्रह करें। आपकी असीम अनुकम्पा से मेरी अन्तरंग दृष्टि खुल गयी है; इसलिए कुमत और जीवन के पापमय मार्ग से मुझे पूर्ण घृणा

हो गयी है। आज मुझे ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई है कि जिसे मनुष्य तो क्या, परन्तु देव भी दूषित नहीं कर सकते। इसलिए मैं अपनी शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार करता हूँ। हे प्रभु! मर्यादा की रक्षा करने के लिये किये जानेवाले युद्ध की हिंसा को छोड़कर अवशेष समस्त प्राणियों पर मुझे दयाभाव हो। हे प्रभु! दूसरे की हिंसा, असत्य या कटुवचन, दूसरे की सम्पत्ति का हरण, निष्प्रयोजन परिग्रह का संचय तथा अन्य की पत्नी का आलिंगन तथा उसके साथ के रति सुख का मैं आजीवन त्याग करता हूँ।'

कुमार वरांग भव्य थे, इसलिए वे स्वयं को धर्म मार्ग पर लगा सके थे। जैसे, अन्धे को आँख मिल जाये या भिखारी को खजाना मिल जाये तो उसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता कुमार वरांग को यह अनुव्रत धारण करने से हुई थी, क्योंकि आज तक ऐसे सुख की कल्पना भी उन्होंने नहीं की थी; ऐसा सुख जाना ही नहीं था। व्रतरूपी रत्नों को प्राप्त करने के बाद कुमार वरांग ने केवली भगवान को षाष्टांग प्रणाम किया और अन्य मुनिराजों की भी प्रदक्षिणा-वन्दना करके अपने महल की ओर प्रस्थान किया।

❖ ❖ ❖

इस प्रसंग के पश्चात् युवराज वरांग के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। वे प्रात: उठकर सूर्योदय के पहले स्नानादि मंगल कार्य करके, अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा करने लग जाते थे। तत्पश्चात् गुरुओं और साधुओं की यथायोग्य विनय करके स्वाध्याय करने के लिए स्वाध्यायशाला में जाते थे। वहाँ जाकर भी शास्त्र-स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, चर्चा इत्यादि करते

रहते थे। अब उनका जीवन परिवर्तित हो गया था। उनका मन शास्त्रों के गूढ़ तत्त्व को समझने में ही लगा रहता था।

महाराज धर्मसेन जब राजसभा में लोगों को कुमार वरांग की सेवा परायणता, न्याय निपुणता इत्यादि उदार गुणों की प्रशंसा करते हुए सुनते थे, तब उनका मन / हृदय प्रसन्नता के पूर से डोल उठता था। महाराज अपने पुत्र के सुकर्मों को देखकर दिन-प्रतिदिन उसके प्रति अधिक से अधिक अनुरक्त होते थे। उनके मन का अभिप्राय जानकर उनके चारों ही प्रधानमन्त्रियों ने राजा के समीप जाकर उनके समक्ष युवराज वरांग के राज्याभिषेक का प्रस्ताव प्रस्तुत किया तथा महाराज के सभी पुत्रों में युवराज वरांग ही यह राज्य सम्भालने योग्य है, ऐसा भी कहा। प्रधानमन्त्रियों का विचार सुनकर राजा ने सहर्ष उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया और राज्याभिषेक करने की तैयारी की आज्ञा प्रदान की।

कुमार के राज्याभिषेक के निमित्त से सम्पूर्ण नगरी का शृंगार किया गया। जब राज्याभिषेक का मंगल दिवस आया, तब राजा ने कुमार वरांग को अत्यन्त शोभायमान सिंहासन पर पूर्व दिशा में मुँह करके बैठाया और मस्तकाभिषेक किया तथा अपने सम्पूर्ण राज्य का तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकार राजा वरांग को सौंप कर स्वयं निश्चिन्त हुए। कुमार के राज्याभिषेक से सम्पूर्ण राज्य आनन्दित था। मात्र उनके भाई जिन्हें राज्य प्राप्त नहीं हुआ था, वे अत्यन्त दुःखी हुए और वराङ्ग की बहुत निन्दा की। दूसरे राजकुमारों द्वारा समझाये जाने पर अधिक क्रोधित हुए और युद्ध करने हेतु तत्पर हो गये तथा कुत्सित वचन बोलने लगे। तब प्रधानमन्त्रियों ने उन लोगों को बहुत समझाकर शान्त किया।

संसार का यह सुविख्यात नियम है कि विशेष पुण्याधिकारी पुरुषों की सेवा और भक्ति उन लोगों को करना चाहिए, जिन लोगों ने पूर्व जन्म में पुण्यकर्म नहीं किया।

राजा वरांग का पुण्य विशाल था, उनकी कीर्ति दशों दिशाओं में दूर-दूर तक व्याप्त थी; इस कारण राजा वरांग ने पिता द्वारा विजित उस पृथ्वी का दिग्विजय करने का निर्णय लिया।

महाराजा धर्मसेन की पटरानी गुणदेवी अन्त:पुर की सौन्दर्य गुणों की खान अन्य रानियों सहित अन्त:पुर में विराजमान थी। उसी समय राजा द्वारा भेजे गये सेवक ने महारानी को उनके पुत्र वरांग के राज्याभिषेक की सूचना प्रदान की। पुत्र को राज्य प्राप्ति के समाचार सुनकर माता आनन्द विभोर हो गयी। जो व्यक्ति समाचार लेकर आया था, उसका महारानी ने वस्त्राभूषण द्वारा सम्मान किया। महाराज की दूसरी रानियाँ भी यह समाचार सुनकर प्रसन्न हुईं।

इन सभी रानियों में रानी मृगसेना राजा को अत्यन्त प्रिय थी। यह समाचार सुनकर वह क्रोध से इतनी खिन्न हो गयी कि उसने अपना मुँह नीचे कर लिया और वहाँ से उठकर अपने प्रासाद में पहुँच गयी। अपने प्रासाद में आकर रानी ने अत्यन्त रुदन किया। उसने विचार किया कि संसार में ऐसा नियम है कि यदि बड़ा पुत्र सुयोग्य हो तो राज्य उसे प्राप्त होता है परन्तु ऐसा क्यों हुआ कि बड़ा पुत्र सुयोग्य होने पर भी, दूसरे पुत्र को राज्य क्यों दिया गया?

रानी मृगसेना ने एकान्त में अपने पुत्र को बुलाकर कहा— 'हे बेटा! वरांग को राज्य प्राप्त हो रहा है, इसकी सूचना तुझे ही

प्राप्त कर लेनी चाहिए थी न? अगर तुझे पता नहीं था और तेरी अपनी या राजा की शक्ति कम समझकर तू चुप रहा तो तेरे पुरुषार्थ और पुरुषत्व दोनों को धिक्कार है। जीवन के मोह में पड़कर जो व्यक्ति हीन पुरुषों के समान आचरण करने लगता है, शक्तिहीन होने के कारण जो पुरुष पराक्रम करना छोड़ देता है तथा जिसके बल और पराक्रम दूसरे लोग नष्ट कर देते हैं, उस मनुष्य को इस पृथ्वी पर जन्म धारण करने से क्या लाभ है? मैं जब-जब गुणदेवी के सौभाग्य का विचार करती हूँ और उसके पुत्र की उत्कृष्ट विभूति और वैभव का विचार करती हूँ, तब-तब क्रोध की अधिकता से मेरा सिर फटने लगता है और अब इन प्राणों को मैं किंचित्मात्र भी रख सकूँ, ऐसा नहीं है।'

माता द्वारा उक्त प्रकार से लांछित होने से सुषेणकुमार ने कहा—'हे माता! मुझे इस बात का पता नहीं था, ऐसा नहीं है तथा हीन शक्तिवाला हूँ, ऐसा विचार करके भी मैं चुप नहीं रहा; यह सब मेरे पिताजी ने ही किया है - ऐसा जानने पर भी, मैंने तो उसी समय युद्ध करने के लिये तैयार होकर तलवार निकाल ली थी, तथा कितने ही कुमारों ने भी मेरा साथ दिया था परन्तु मुझे उस बूढ़े मन्त्री ने रोक दिया था।'

अपने पुत्र की बात सुनकर रानी मृगसेना ने अपने विश्वस्त मन्त्री को बुलाया। मन्त्री के आने पर पहले तो उसका बहुत आदर-सत्कार किया, पश्चात् साहसपूर्वक कहा—'मेरे माता-पिता ने तुम्हें हमारी सेवा के लिये यहाँ भेजा था और समय आने पर तुमने ऐसी सहायता की भी है परन्तु जिस वृक्ष को तुमने इतनी चिन्ता और परिश्रम से बड़ा किया है, अब उस वृक्ष को ही

कैसे काटते हो ? अगर यदि हम तुम्हारी दृष्टि में शुद्ध हैं, अगर यदि हम तुम्हारे शुद्ध पक्षपाती हों, अगर हमारे परिजनों और मित्रों ने यदि तुम पर कभी कोई उपकार किया हो तो तुम इस वरांग के स्थान पर सुषेण को राज्यसिंहासन पर आसीन करा दो।'

मन्त्री की बुद्धि प्रखर होने के साथ ही सत्पथगामिनी थी, इसलिए रानी के नीति और न्याय से प्रतिकूल ही नहीं, अपितु सर्वथा युक्तिहीन वचन सुनकर भी उसके मन में किसी भी प्रकार के पक्षपात की भावना जागृत नहीं हुई। वह अत्यन्त दूरदर्शी था, इसलिए उसने रानी के वचन पर बहुत देर तक मन में ही विचार किया; तत्पश्चात् उसने कहा—'जो व्यक्ति पुण्यात्माओं का नाश करना चाहता है, वह सबसे पहले अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्वयं इस संसार में नि:शेष हो जाता है। जिस व्यक्ति के भाग्य से लक्ष्मी उतर गयी है, उसे प्रयत्न करके भी उच्च पद पर नहीं बैठाया जा सकता। इसी प्रकार जिसकी लक्ष्मी पुण्य और पुरुषार्थ के कारण बढ़ रही है, उसकी प्रतिष्ठा और पद का नाश करना सम्भव नहीं है। जिसके पल्ले में बुद्धि नहीं है, उसके द्वारा विचारित योजना निश्चय से विनाश के उदर में समा जाती है। इससे हम सभी का हित और कल्याण इसी में है कि हम राजा वरांग की शरण में रहकर शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करें।'

मन्त्री के द्वारा इतना सब समझाये जाने पर भी रानी ने अपनी बात का परित्याग नहीं किया और मन्त्री को अकार्य करने के लिये मजबूर किया। मन्त्री ने रानी के पिता के साथ अपने सम्बन्धों का विचार करके रानी से कहा—'यदि सुषेण का पुण्य अभी

अवशेष होगा तो वह राज्य-सिंहासन पर तो अवश्य बैठेगा। मैं आज से ही प्रयत्न प्रारम्भ कर देता हूँ'—ऐसा कहकर बहुत देर तक मन्त्री ने एकान्त में रानी मृगसेना और सुषेणकुमार के साथ मन्त्रणा की। अब, मन्त्री की एक ही अभिलाषा थी कि कुमार सुषेण राजगद्दी पर विराजमान हों और वरांग के राज्य का शीघ्रातिशीघ्र पतन हो जाये। इसलिए अब उठते-बैठते, चलते-सोते आदि समस्त अवस्थाओं में वरांग के राज्य के दुर्बल और दूषित अंगों को ढूँढ़ने में मन्त्री स्वयं ही पूरा समय व्यतीत करता था।

इस प्रकार बहुत समय बाद मृगति के एक छत्र अधिपति ने युवा राजा वरांग के लिये दो श्रेष्ठ घोड़े भेजे। उन दोनों की जाति तथा अवयव उन्नत और शुभ थे। उनकी अवस्था भी अभी उस समय किशोर थी, दोनों का रूप अत्यन्त आकर्षक था। घोड़े में जितने भी शुभ लक्षण हो सकते हैं, उन सबका तो वे निवासभूमि ही थे। जब राजा ने इन दोनों किशोर घोड़ों को देखा, तब एकाएक वह बोल उठा कि इन दोनों किशोरों को कौन अच्छी तरह शिक्षित कर सकता है ?

राजा के यह शब्द सुनकर मन्त्री को अपना षड्यन्त्र करने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने खड़े होकर कहा कि 'यदि कोई मुझसे अधिक उत्तम प्रकार से इन किशोर घोड़ों को शिक्षित कर सके, ऐसा हो तो मैं उसके साथ रहकर घोड़ों को शिक्षित करूँगा और देखूँगा कि कौन शीघ्र घोड़ों को शिक्षित करता है ?' मन्त्री के ऐसे उत्सुकतापूर्ण वचन सुनकर राजा ने उसे वे दोनों घोड़े सुशिक्षित करने के लिए सौंप दिये, क्योंकि सब जानते थे कि इस

मन्त्री से अधिक सर्व शास्त्रों में पारंगत कोई दूसरा नहीं है।

मन्त्री ने विधिपूर्वक चार माह तक दोनों घोड़ों को पालतू बनाकर शिक्षित किया। एक घोड़े को शुभगति तरफ आदि न्याययुक्त शिक्षा देकर सर्वथा उपयोगी बनाया तथा दूसरे को छलकपट करने का अभ्यास कराकर भयावह बना दिया। इस प्रकार दोनों घोड़ों को शिक्षित करने के बाद एक दिन घोड़ों को लेकर वह राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। नगर के बाहर एक विशाल वृत्ताकार क्रीड़ाक्षेत्र था, वहाँ राजा और प्रजा नव घोड़ों का कौशल देखने के लिए एकत्रित हुए। सबके समक्ष मन्त्री वहाँ सीधे घोड़े पर सवार होकर अलग-अलग चाल चलाता था। उसे देखते ही युवा राजा का चित्त उन घोड़ों में मुग्ध हो गया। राजा वरांग, घोड़े की चाल इत्यादि क्रियाओं में इतने निपुण थे कि उस विषय में कोई दूसरा उनकी समानता कर ही नहीं सकता था।

राजा वरांग, घोड़ों की शिक्षा से परम सन्तुष्ट हुए - ऐसा जानकर मन्त्री ने कहा—'हे महाराज! यह दूसरा घोड़ा, इस प्रथम घोड़े से भी अधिक विशिष्ट है और वह आपके ही सवार होने योग्य है'—ऐसा कहकर मन्त्री ने उस कुशिक्षित घोड़े को युवा राजा वरांग के समीप लाकर उपस्थित कर दिया।

भवितव्य ऐसा ही था, जिससे घोड़े पर आरूढ़ होने की तीव्र अभिरुचि के कारण अथवा यौवन में सुलभ आत्मगौरव की भावना के कारण ही युवराज वरांग ने उस कुशिक्षित घोड़े की परीक्षा करना आवश्यक नहीं समझा और उसी समय उस घोड़े पर सवार होने के लिए उद्यत हो गये और तुरन्त ही सवारी के लिये अनुपयुक्त वेशभूषा में ही विधिपूर्वक चढ़ गये। आश्चर्य

की बात यह है कि उन्होंने तुरन्त ही शीघ्रता से उसे चलाना प्रारम्भ कर दिया। घोड़े को तो कुशिक्षा दी गयी होने से उसे रोकने के लिए जैसे बारम्बार घोड़े की लगाम खींचे, वैसे-वैसे वह क्रोध से युक्त होकर उद्दण्ड होता जा रहा था। अतः उस पर नियन्त्रण रखना भी असम्भव होने लगा।

कुछ ही देर में घोड़े की गति पवन समान तीव्र हो गयी, जिससे वह धनुष से छोड़े गये बाण की भाँति बहुत दूर निकल गया। मन्त्री की कुशिक्षा ने घोड़े को इतना अधिक दुष्ट बना दिया था कि अश्वचालन में कुशल राजा वरांग जैसे-जैसे उसे वापस मोड़ने की मेहनत करते, वैसे-वैसे वह घोड़ा अत्यधिक क्रोधित होकर अपनी गति किंचित् भी नहीं घटाता था। मन्त्री ने इस घोड़े को विपरीत आचरण करने की ही शिक्षा दी थी, उसे रोकने के लिए राजा जितनी मेहनत करे, वह उतनी ही शीघ्रता से भागता था। मार्ग में अनेक गाँव, खेत, नगर, राज्य आदि आये, उन्हें शीघ्रता से पार करके किसी अज्ञात देश में वह उसी प्रकार पहुँच गया, जिस प्रकार ऊपर की ओर फेंका गया जल नीचे आता है।

इस ओर उसे बेरोक भागता देखकर उसका पीछा करने के लिये कितने ही अत्यन्त वेगवाले घोड़े उसके पीछे दौड़ाये गये परन्तु वे भी उसे उसी प्रकार से पकड़ नहीं सके, जिस प्रकार वेग से झपट्टा मारकर उड़नेवाले गरुड़ को आकाश में सभी पक्षी मिलकर भी नहीं रोक सकते। वह दुष्ट घोड़ा ऊँचे-नीचे मार्गों में, झाड़ियों में, जंगल में अत्यन्त वेग से चला जा रहा था, जिससे वरांग का मुकुट तथा उसके शरीर के आभूषण गिर गये। उसका

हृदय विषाद से भर गया। पूरा शरीर आवेग से काँपने लगा और गला सूख गया।

इतनी देर तक घोड़े की अत्यन्त तीव्र गति को सहन करने के कारण राजा की शक्ति धीरे-धीरे न्यून होने लगी और पराक्रम तथा पुरुषार्थ भी शिथिल पड़ गये। अन्ततः घास से ढँके हुए एक कुएँ में दोनों जाकर गिरे। अपने पूर्वकृत अशुभकर्म के उदय से कुएँ में गिरते ही घोड़ा मर गया परन्तु युवक राजा ने पहले ही किसी बेल को पकड़ लिया, जिससे मृत्यु से बच गया और धीरे-धीरे कुएँ से बाहर निकल आया, परन्तु बाहर निकलते ही अत्यन्त कठोर स्थल पर मूर्च्छित होकर गिर गया। थोड़ी देर बाद जंगल की शीतल वायु के कारण थकान उतरने से होश में आकर अपनी हालत देखकर संसार की अस्थिरता की निन्दा की।

जब उसे अपने पूरे परिवार का स्मरण हुआ तो हृदय दुःख से भर गया और विलाप करने लगा परन्तु तुरन्त ही उसका स्वमान जागृत हो उठा कि वह राजपुत्र है। पहले तो मन्त्री का छल याद करके अत्यन्त क्रोधित हुआ परन्तु संसार की अस्थिरता देखकर वैराग्य हो गया। फिर हिम्मत करके दिशा का भान न होने पर भी धीरे-धीरे चलने लगा। थोड़ी देर पश्चात् देखता है कि एक बाघ उसका पीछा कर रहा है और वह अत्यन्त निकट आ गया है, तब तुरन्त ही वह अतिशीघ्रता से एक वृक्ष पर चढ़ गया और पूरी रात्रि उस वृक्ष पर ही अत्यन्त कष्ट से व्यतीत की।

वियोग का शोक और भविष्य की चिन्ताओं से राजा वरांग उदास था। भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो गया था। वृक्ष पर ऐसी विषम परिस्थिति में एक रात बिताने पर उसे लगा कि

कितनी रात्रियाँ व्यतीत हो गयीं। वह बाघ भी उसके माँस के लोभ से पूरी रात वहाँ से अन्यत्र नहीं गया। उसी समय राजा वरांग ने देखा कि एक जंगली हाथी, हाथिनी के साथ जा रहा था। उसने विचार किया कि यदि यह हाथी यहाँ आवे तो बाघ के साथ युद्ध हो और मैं यहाँ से निकल सकूँ, ऐसा विचार कर उसने हाथी को ललकारा। मनुष्य की ललकार सुनकर हाथी क्रोधित होकर उस ओर आने लगा। हाथी को इस ओर आता देखकर बाघ अत्यन्त क्रोधित हुआ और उछलकर हाथी के गण्डस्थल पर पंजा मारा। इस प्रकार बाघ से घायल होते हाथी का क्रोध भी चरम सीमा पर पहुँच गया; इसलिए उसने बाघ को नीचे गिराकर दाँत से मार डाला। बाघ को मारने के बाद हाथी भी दूसरी ओर चला गया।

एक बड़ा संकट टलने से राजा को बहुत सन्तोष हुआ। भूख के कारण राजा की दुर्वस्था हो रही थी और प्यास के कारण भूख से भी अधिक व्याकुल हो गया था; इसलिए वह पुरुषार्थी राजा तुरन्त ही पानी की शोध में निकल पड़ा। हाथी के चलने से जो मार्ग बना था, वह मार्ग पकड़कर राजा वरांग चलने लगा। थोड़ी दूर जाकर एक तालाब दृष्टिगोचर हुआ। विवेकी राजा ने तालाब के पास जाकर पहले अपने हाथ-पैर धोये और तत्पश्चात् कमल के पान से पानी पीकर अपनी तृषा शान्त की। एक समय था कि जब राजा वरांग अपने महल में सोने-चाँदी के पात्र में सुगन्धित और शीतल, अप्सरा समान युवतियों के हाथ से दिया गया जल, जितना चाहिए उतना पीता था और एक समय अभी का है कि उसी राजा ने ऐसा पानी पिया कि जिसमें सिंह, बाघ आदि की

लार और हाथियों का मदजल होने के उपरान्त अप्रासुक और अनछना भी था।

आज राजा पथरीली जमीन पर नंगे पैर चले जा रहे थे, उनके समक्ष कोई मार्ग ही नहीं था। पुण्य कर्म के उदय से जिस राजा को पहले पाँच इन्द्रिय के भोग्यविषय परिपूर्ण मात्रा में प्राप्त होते थे, वही पुण्य-कर्मों की फलदान शक्ति रुक जाने से, वह राजा वरांग आज एक इन्द्रिय को शान्त करने में भी असमर्थ था।

**राजा वरांग जैसे अतुल और असीम वैभव तथा प्रभुता के स्वामी का, कि जिसका प्रताप सूर्य के समान सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर देता हो, पूर्व पुरुषार्थ ( पुण्य ) के नष्ट हो जाने से उसकी भी जितनी सम्पत्ति होती है, क्षणभर में लुप्त हो जाती है, तो फिर सामान्य मनुष्य का तो कहना ही क्या, कि जो सर्वथा दूसरे की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते हैं। दिन-रात हजारों प्रकार के क्लेश भोगते हैं तथा जिनकी आजीविका के साधन अत्यन्त निकृष्ट हैं!!**

युवक राजा ने पानी पीकर अपनी प्यास बुझायी और शारीरिक थकान को भी दूर करने के लिये स्नान करने का निर्णय किया। स्नान करने के लिये वह राजा धीरे-धीरे तालाब में उतरा। तालाब में उतरकर राजा ने अपने शरीर को रगड़-रगड़कर अपनी इच्छानुसार पूर्ण स्नान किया। तत्पश्चात् राजा को तालाब के मध्य जाकर तैरने की इच्छा हुई। अपने पूर्वकृत कर्म का फल वहाँ इसरूप में मिलना होने से भवितव्यता की प्रेरणा से उसने तालाब के अगाध पानी में तैरना शुरु किया। तालाब में बहुत समय तक तैरने के पश्चात् जब राजा बाहर निकलने का विचार

कर वापस मुड़ा कि तुरन्त ही मगर ने उसका पैर अत्यन्त जोर से अपने मुँह में पकड़ लिया। उसने अपना पैर छुड़ाने की बहुत मेहनत की परन्तु छुड़ा नहीं सका।

**राजा वरांग विचार करने लगा कि किसी उपाय से महा कठिनाई से बाघ का भय दूर हुआ, वहाँ यह दूसरी विपत्ति कहाँ से आ पड़ी ? पूर्व भव में बाँधे हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल जीव को कहीं छोड़ता नहीं है। भले फिर वह अपने राज्य में रहे या अपना राज्य परित्यागकर बाहर चला जाये! चाहे तो धरती पर ही एक स्थान से दूसरे स्थान में भागता फिरे या मित्रों और सम्बन्धियों से घिरा हुआ रहे! चाहे तो आकाश में उड़ जाये या बहुत मजबूत तालाब घर में छुप जाये! कर्मों के फल की अटलता की ऐसी विधि है कि किसी भी कारण या योजना से उनका प्रतिकार नहीं हो सकता।**

मगर से बचना अशक्य लगने से, उसने बारह भावनाओं का चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। उसने अपना चित्त शुभध्यान में लगाया और पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके उनकी स्तुति करने लगा। ऐसा चिन्तन-मनन-स्तुति करते हुए उसके चेहरे पर किंचित् भी आकुलता दिखायी नहीं देती थी।

**महाराज वरांग अपने उपयोग को बदलकर अपने आत्मा का चिन्तवन करने लगे। वे विचारने लगे कि इस मगर के मुँह में से छूटकर मेरा बचना या मरना निश्चित ही है। मैं व्यर्थ ही आकुलता करके नवीन कर्म का बन्ध करता हूँ। क्रमबद्ध में होगा तो मैं बचूँगा और मरना होगा तो मरूँगा ही, उसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। यदि मेरा बचना निश्चित होगा तो कोई**

**देव आकर भी मुझे मदद करेगा। अभी राग की उपस्थिति होने से राजा वरांग बचने के लिये मेहनत करते थे परन्तु साथ ही साथ विचार करते थे कि मैं तो भगवान पूर्ण परमारत्मा वर्तमान में ही हूँ। मुझे और इस शरीर को कुछ सम्बन्ध ही नहीं तो अन्य से तो क्या सम्बन्ध!! अरे! केवली भगवान तो कहते थे कि यह जो रागादि विकारी पर्याय है, उसका भी मैं कर्ता नहीं! अरे, कर्ता तो नहीं परन्तु वास्तव में तो रागादि विकारी पर्याय का ज्ञाता भी नहीं!!! मैं तो मात्र मेरे ज्ञान को ही जानता हूँ। मैं ही ज्ञान, ज्ञाता, और मैं ही ज्ञेय हूँ - तो फिर इस मगर द्वारा मुझ पर उपसर्ग तो कोई वस्तु ही नहीं है। मगर को यह शरीर चाहिए और मुझे मेरा आत्मा चाहिए, तो फिर भले वह इस शरीर-जड़ पुद्गल को ले जाये!**

❖ ❖ ❖

अत्यन्त सरल और शुद्ध अन्त:करण से जब राजा वरांग इस प्रकार आत्मस्तुति कर रहे थे, तब अकस्मात ही उनके पूर्व पुण्य के उदय से और आयुकर्म अवशेष होने से किसी यक्षिणी की दृष्टि उन पर पड़ी। कठोरतम विपत्ति में पड़े हुए तथा सब प्रकार से विवश होने पर भी अपने पुण्य को धारण कर रखे हुए राजा को देखकर उसकी महिलासहज करुणा उमड़ पड़ी और प्रत्यक्ष दर्शन दिये बिना उस मगर के मुख में से वरांग का पैर छुड़ाया। मगर के मुख में से पैर छूटते ही वह तुरन्त तालाब के बाहर आया, पंच नमस्कार मन्त्र का उच्चारण किया और चारों ओर देखने लगा कि मुझे किसने बचाया है ? परन्तु किसी को निकट न देखकर विचार किया कि **भवितव्यता बलवान है!**

राजा जब उक्त प्रकार से विचार कर रहा था, तब उसे

बचानेवाली देवी उस पर प्रसन्न होकर सूक्ष्मरूप का त्याग करके अपने मूलस्वरूप में वरांग की परीक्षा करने के लिये उनके सन्मुख उपस्थित हुई। उसकी सुन्दरता का वर्णन करना अशक्य है, उसकी सुन्दरता अनुपम थी, उसने वरांग के समीप आकर कहा कि— 'हे आर्य! मैं जानना चाहती हूँ कि तुम कहाँ से आये हो? यहाँ रहने में क्या प्रयोजन है अथवा यहाँ से तुम कहाँ जाओगे? यदि तुम्हें कोई बाधा न हो तो इन प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो।'

जिसके निर्दोष और पूर्णरूप के साथ संसार का अन्य कोई सौन्दर्य स्पर्धा न कर सके - ऐसी रूपवती को देखते ही युवक राजा गम्भीर विचारधारा में खो गया। उसने विचार किया कि क्या यह रूपराशि किसी देव की प्राणप्रिया है? मनुष्य है? अथवा किसी राक्षसी ने मनुष्य का रूप धारण किया है? सिंहादि हिंसक प्राणियों से भरपूर ऐसे जंगल में निडर और नि:शंक होकर घूमती है, यह कौन होगी? यह अचानक कहाँ से आ गयी? यह किसकी पुत्री या पत्नी होगी? इसकी एक-एक बात में शंका उत्पन्न होती है।

ऐसी परिस्थिति में उस स्त्री ने राजा से कहा कि—'हे आर्य! मैं एक विशाल राज्य के अधिपति की सन्तान हूँ। मेरा पूर्वपुण्य समाप्त हो गया है, इसलिए सब ही भूलकर और सब ही खोकर

इस निर्जन वन में अकेली रहती हूँ। पूर्व जन्म में कोई पुण्य किया होगा, जिसके प्रताप से इस अटवी में भटकते हुए मुझे यहाँ आपके दर्शन हुए। क्या कहूँ, आपको देखते ही मेरा मन और शरीर आपके वश हो गये हैं। मैं अत्यन्त दु:खी हूँ। संसार में मुझे अन्य कोई सहारा नहीं है; इसलिए मुझे स्वीकार करो। मैंने इतने दारुण दु:ख सहन किये हैं कि एक प्रकार से मेरी चेतना ही नष्ट हो गयी है। मेरा कोई ठिकाना नहीं और मैं मेरी विपत्तियों का सामना नहीं कर सकती। अब आप ही मुझे शरणदाता हो। मेरा उद्धार आप ही कर सकते हो।'

उस स्त्री को देखते ही ऐसा लगता था कि वह विविध ज्ञान और सकल कलाओं में पारंगत हो, साथ ही साथ वह इतनी ढीठ थी कि उत्तर न मिलने से वरांग को बारम्बार हिलाती थी। उसके बलवान स्पर्श के कारण और अपने बाल तथा शरीर की रुक्षता और वस्त्रों की दुर्दशा देखकर वरांग शर्म से नम गया था, तथापि शर्माते हुए थोड़ा बोला कि—'हे आर्य! तुम्हारे प्रिय वचन निश्चय से मेरे लिये सुभाषित हैं; इसलिए ग्रहण करने योग्य हो सकते हैं, परन्तु तुम यह भी जानती हो कि प्रिय वाक्य की तरह सत्य वचन ही शोभा पाते हैं। तुम देखती हो कि वर्तमान में यहाँ मेरे निर्वाह का ही कोई मार्ग नहीं; इसलिए हे आर्य! मैं तुम्हारा सहारा किस प्रकार बन सकता हूँ, यह तुम्ही बताओ! जो व्यक्ति जागृत हो, वह दूसरे को जगा सकता है अथवा जो स्थिर हो, वह दूसरे की डगमग अवस्था का अन्त कर सकता है परन्तु जो स्वयं सो रहा हो, वह दूसरे को किस प्रकार जगाये अथवा जिसकी स्वयं की स्थिति डाँवाडोल हो, वह दूसरे को किस प्रकार स्थिर करे?'

युवक राजा वरांग का ऐसा उत्तर सुनकर वह बोली कि—'हे आर्य! तुम्हें ऐसा प्रत्युत्तर देना शोभा नहीं देता। ऐसी बातें तो वे ही करते हैं कि जो कपुरुष हों अथवा जिनकी सभी अभिलाषाएँ तथा प्रेमपिपासाएँ शान्त हो गयी हों। मैं तुम्हारी शरण में आयी हूँ और तुम्हारे प्रति अतूट भक्ति रखती हूँ; इसलिए मेरा स्वीकार करो।'

कुमार वरांग का यौवन चढ़ाव पर ही था तथा सुन्दर सुभग तो वह था ही; तदुपरान्त सामने खड़ी सुन्दरी के प्रिय वचन भी काम को जगानेवाले थे, तथापि उन्हें सुनने से राजकुमार को अपनी पत्नी में ही रति केन्द्रित करनेवाला 'स्वदार सन्तोष व्रत' ग्रहण किया था, वह स्मरण आया। फलस्वरूप कुछ देर विचार करके राजा ने उससे कहा कि—'हे आर्य! आज से थोड़े समय पूर्व मुझे परमपूज्य केवली के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ था। उस समय मैंने अनेक मुनियों के समक्ष 'स्वदार सन्तोष व्रत' ग्रहण किया था। यह व्रत मनुष्य के कामाचार को नियन्त्रित करके, उसे समाधि की ओर ले जाता है। मैं कामी नहीं, यह बात नहीं तथा पुंसत्व से रहित भी नहीं तथा तुम्हारे विषय में विचार करूँ तो हे सुन्दरी! तुम कमनीय युवती नहीं-ऐसा तो विचारा ही नहीं जा सकता। सत्य तो यही है कि मैं स्वादारसन्तोष व्रत से भूषित हूँ और तुम तो जानती हो कि किसी भी व्रत को ग्रहण करके तोड़ना कितना नीच काम है?'

यह सुनकर देवी प्रसन्न हुई और उसे विश्वास हो गया कि युवक राजा की बुद्धि स्थिर है और ग्रहण किये हुए व्रत को पालन करने में अत्यन्त दृढ़ है। पश्चात् उसने अपना वास्तविक

स्वरूप प्रगट किया और वरांग की परीक्षा की थी, उसके लिये क्षमायाचना की। वरांग की बहुत प्रशंसा करके वह अचानक आकाश में अदृश्य हो गयी।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार युवक राजा वरांग दो भय-संकट से बचे थे, तथापि अभी यह प्रश्न खड़ा ही था कि अब जाना कहाँ? करूँ तो क्या करूँ? बहुत विचार करके वहाँ से आगे चल निकले। मार्ग में आगे बढ़ने पर बीच में कोई खानेयोग्य फल खाकर अपनी भूख मिटायी। अपने जीने के ध्येय को सार्थक करने के लिये वे आगे-आगे चले जा रहे थे और उस हालत में उनका एकमात्र साथीदार उनके दो हाथ थे।

❖ ❖ ❖

आगे जाने पर युवक राजा वरांग को पुलिंद जाति के वनवासियों ने देखा। अत्यन्त डरावने हजारों की संख्या में वे चले जा रहे थे। वरांग को देखते ही उन्होंने अपने डण्डे, तलवार, धनुष-बाण हाथ में लेकर उसे चारों ओर से घेरकर बाँध लिया। वे वरांग को बाण की अणी मारते-मारते अपने निवास में ले गये। वहाँ पहुँचकर वरांग को उनके राजा की झोपड़ी पर ले गये। उस झोपड़ी के चारों ओर हाथी के दाँत की बाड़ थी, हिरणों के टुकड़े, माँस तथा लाशों से भरी पड़ी थी। बैठने के मण्डप में चर्बी, अँतड़ियाँ आदि फैले हुए पड़े थे, जिनमें से ऐसी दुर्गन्ध आ रही थी कि जिसे क्षण भर के लिये दूर से सूँघना भी असम्भव था। दुराचारी, निर्दय, भीलों से दु:ख प्राप्त करते बन्धन में पड़े हुए तथा शारीरिक वेदना के कारण अत्यन्त व्याकुल

युवक राजा घोर घृणा को उत्पन्न करनेवाले तथा आँखों में शूल समान चूभते इस झोंपड़े में रखे गये।

युवक राजा वरांग विचार करते हैं कि फल को जाने बिना पापमय प्रवृत्ति में लिप्त मेरे द्वारा पूर्वजन्म में कैसे अशुभ कर्म हुए होंगे कि जिनका उदय होने पर इतने कटुक फल प्राप्त होते हैं, कि जिससे मुझ पापी को आज भी संकटरूपी घातक और उन्नत लहरों से व्याप्त इस दु:खरूपी समुद्र से छुटकारा नहीं मिलता। कुत्सित तथा पापमय कर्मों का आचरण कितना दु:खद और भयंकर है ? कुकर्मों का अन्त सदा खराब ही होता है। भगीरथ प्रयत्न करने पर भी उन्हें टाला नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी शक्ति ही ऐसी है कि जिसका कोई प्रतिरोध नहीं किया जा सकता।

जिस स्थान में उसे बन्दी बनाकर रखा गया था, वह स्थान केवल अन्धकार से ही बनाया ज्ञात होता था। उसके समस्त कोनों में चमड़ा ही भरा हुआ था। जिसमें से सड़ी हुई दुर्गन्ध आ रही थी। विविध प्रकार के कीड़े-मकोड़े और मच्छर का तो अक्षय भण्डार था। तदुपरान्त भूख से शरीर टूट रहा था, अपमान की ज्वाला शरीर को जला रही थी, रस्सी का बन्धन अंग-अंग में जलता था, स्थान की गन्ध और रक्तादि की धारा विकट वेदना को उत्पन्न करते थे। आँख के समक्ष जो कोई आता, वह अप्रिय था तथा दु:ख और चिन्ता भी अपरिमित थी। इन सब कारणों से बेचारे युवक राजा को एक रात बिताना ऐसा लगा कि मानों हजारों रात्रियाँ व्यतीत हो गयी हों।

❖ ❖ ❖

प्रात:काल होते ही पुलिंदों के अधिपति के सेवक, जिनके अन्त:करण इतने मलिन थे कि उनसे दया की सम्भावना करना अशक्य था; राजा वरांग को जबरदस्ती पकड़कर वनदेवी के मन्दिर में इस प्रकार घसीटकर ले गये, जिस प्रकार यज्ञ में नियुक्त ब्राह्मण, यज्ञ के बकरे को बलिदान करने के लिये ले जा रहा हो। इस दौरान पुलिंद पति के अनुपम और अमित पराक्रमी पुत्र को, जो कि शिकार की इच्छा से जंगल में जा रहा था, उसे अत्यन्त कुपित महाविषैले सर्प ने डंक मारा, क्योंकि उसके पैर के नीचे सर्प आ गया था। डंक लगते ही विष इतने वेग से पूरे शरीर में फैल गया कि वह भीमकाय पुलिंद क्षण भर में ही मूर्च्छित होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके सेवक उसे उसके पिता के समीप ले गये। उसका पिता घबराकर तुरन्त ही विष का प्रतिकार खोजने के लिये वनदेवी के मन्दिर में पहुँचा। वहाँ उसने राजा वरांग को बन्धन में विवश पड़ा हुआ देखा। पुलिंदपति ने राजा वरांग से पूछा कि क्या आपको विष का उपचार करना आता है ? राजा वरांग ने कहा कि मैं किसी भी विष उतार सकता हूँ। यह सुनते ही पुलिंदपति ने उसका बन्धन खुलवाया और उससे प्रार्थना की कि मुझ पर अनुग्रह करके मेरे पुत्र को बचावें।

राजा वरांग, पुलिंदपति के पुत्र के समीप पहुँचकर परम ऋषियों, श्रेष्ठ योगियों तथा साधुओं द्वारा विधिवत बताये गये मन्त्र का पाठ करने के साथ श्री जिनेन्द्र भगवान के स्तवनों का भी उच्चारण करते हुए युवक पुलिंद के शरीर पर जल का छिड़काव करने लगा। धीरे-धीरे थोड़ी ही देर में युवक पुलिंद

एकदम जागृत हो गया। यह देखकर पुलिंदपति ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि—'हे नाथ! हमने आपको पहिचानने में भूल करके बहुत कष्ट दिया है। हम मूर्ख बुद्धियों ने आपके प्रति अपराध किया है, जिसे आप क्षमा करें।' राजा वरांग ने उन्हें तुरन्त ही सरलता से माफ किया, जिससे प्रसन्न होकर भीलों के सरदार ने उन्हें बहुत भेंट प्रदान करके कहा कि आपके योग्य भोजन ग्रहण करो और आपकी चोट मिटने के पश्चात् यहाँ से विदाई लो।

युवराज वरांग ने कहा—'मुझे आहार की या भेंट की आवश्यकता नहीं है। मुझे मात्र किसी नगर की ओर जानेवाला मार्ग दिखाओ और विदा दो, जिससे मैं शीघ्र किसी नगर में पहुँच सकूँ।' पुलिंदराजा के इशारे से बहुत भील बहुत दूर तक साथ जाकर राजा वरांग को बहुत देशों की ओर जानेवाला उत्तम मार्ग दिखाकर स्वयं वन में वापस आ गये। भील लोगों के चले जाने के बाद राजा वरांग विचार करने लगा कि अब मुझे कहाँ जाना? मुझे देश में वापिस जाना या दूसरे देश में जाऊँ? उसने विचार किया कि मेरे पूर्वकृत कर्मों के विपाक ने राज्य सिंहासन से खींचकर क्षण में ही जिस प्रकार मुझे अमित वैभव और प्रभुता से वंचित कर दिया है, यदि मेरा पुण्य बाकी होगा तो वह कर्म ही मुझे समय आने पर उसी प्रकार से राज्य सिंहासन पर स्थापित करेगा। विविध विपत्तियाँ सहन करने पर भी, उसके आत्मबल की सीमा नहीं थी; इसलिए अपने देश के बदले दूसरे देश जाने का निर्णय करके, अपने इष्ट की सिद्धि के लिये एक दीर्घ मार्ग पर चल निकला। जहाँ सूर्य अस्त होता, वहाँ किसी वृक्ष पर चढ़

जाता और रात्रि व्यतीत करता तथा प्रात:काल होती ही उतरकर चलने लगता।

❖ ❖ ❖

एक दिन इसी प्रकार के मार्ग पर चलते हुए उसे व्यापारियों के काफिले ने देखा और तुरन्त ही उन सब निर्दयों ने उसे चारों ओर से घेरकर रोक लिया। उन्होंने राजा को खिजाकर पूछा कि 'तू कहाँ जा रहा है ? क्या जासूसी कर रहा है ? तेरा क्या प्रयोजन है ? तेरे अधिपति का नाम क्या है ? अभी वह कहाँ है ? उसका नाम क्या है ? उसके सैन्यबल का प्रमाण कितना है ? यहाँ से कितने योजन दूर है ? इत्यादि सभी बातों का उत्तर दे।'

उत्तर देते हुए युवक राजा वरांग ने कहा कि 'न तो मैं किसी का गुप्तचर हूँ या न मैं धन-सम्पत्ति की शोध करता हूँ, न मेरे मन में कुछ पाप है और न चोरी मेरी आजीविका है तथा मैं किसी के द्वारा भेजा हुआ किंकर भी नहीं हूँ। तुम इतना विश्वास करो कि भाग्य का मारा हुआ मैं केवल निरुद्देश्य ही भ्रमण कर रहा हूँ।'

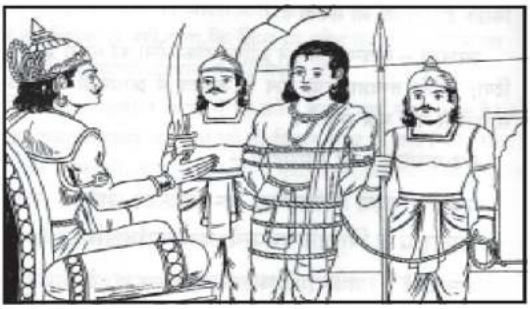

इस उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने कहा कि 'हम लोग कुछ नहीं जानते दोष और गुणों का विवेक करने में हमारे प्रधान अत्यन्त कुशल हैं; इसलिए तुम्हारे सन्दर्भ में वे ही निर्णय करेंगे, क्योंकि ऐसे विषय में क्या कर्तव्य युक्ति संगत होगा, उसे वे ही समझते हैं।' ऐसा कहकर वे युवराज को अपने प्रधान के समीप ले गये।

परिपूर्ण यौवन, सुन्दर तथा बन्धन से बँधे हुए राजा के शुभ लक्षणों से व्याप्त शरीर को देखकर ही प्रधान सार्थपति को उसकी कुलीनता का विश्वास हो गया; इसलिए उन्होंने आज्ञा की कि—'इन्हें तुरन्त बन्धन से मुक्त करो। यह सैकड़ों सार्थों के स्वामी हैं, चोर नहीं हो सकते। यह कोई प्रबल प्रतापी राजा का पुत्र है अथवा स्वयं ही कोई बड़ा राजा है। इनका शरीर और मुखाकृति मनमोहक है। ये बेचारा इस प्रकार की आपत्ति में किस प्रकार फँस गया?'

सार्थपति ने राजा वरांग से पूछा—'हे आर्य! तुम कहाँ से आ रहे हो? यहाँ से कहाँ जा रहे हो? तुम्हारे माता-पिता कहाँ रहते हैं? तुम्हारा गोत्र क्या है? यदि तुम्हारे इष्ट कार्य में विघ्न न होता हो तो मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो।'

राजकुमार स्वभाव से ही बुद्धिमान तथा लोकाचार में कुशल था, इसलिए उसने अपने पर व्यतीत तकलीफें तथा आगे-पीछे का कर्तव्य विचारकर उत्तर में मात्र इतना ही कहा कि 'मेरी वर्तमान अवस्था ही सब स्पष्ट कर देती है तो कहने के लिये दूसरा क्या प्रयत्न किया जाये? इन सभी बातों से क्या प्रयोजन? कृपा करके मुझे छोड़ दें।'

युवक राजा के अत्यन्त सज्जनता और साधुतायुक्त वचन सुनकर सार्थपति ने अपने साथियों की गोष्ठी में प्रसन्नता और उत्साह से प्रसिद्ध किया कि अरे, इनकी परमोत्कृष्ट कुलीनता को तुम लोग देखो तो सही! अपने विभिन्न व्यवहार से न तो इन्हें आश्चर्य होता है और न तो अपना अपमान करने से ये अपने पर कुपित होते हैं। इस प्रकार इनके गुणों की हृदय से महिमा करते

हुए सार्थपति की नजर इनके दुर्बल तथा कृश कपाल और नेत्रों पर अटक गयी। यह देखकर उसने आदर और स्नेह से राजा का हाथ अपने हाथ में लेकर आग्रहपूर्वक अपने तम्बू में ले गया। तम्बू में पहुँचते ही सार्थपति ने युवक राजा के पैर धोने के लिये पानी मँगाया तथा अपने सामने ही उसने शरीर मर्दन, लेपन आदि कराया। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वे राजा को सुकुमारतापूर्वक जल्दी स्नान करावें। तदुपरान्त सार्थपति, राजा के लिये उत्कृष्ट भोजन बनाता था। शुरुआत के थोड़े दिन तो सार्थपति उसी के साथ भोजन करता रहा, कि जिससे युवक राजा को संकोच न हो। पात्र की सुविधानुसार अपनी शक्तिप्रमाण सार्थपति उत्तमोत्तम वस्त्राभरण प्रदान करता था और तथापि कहता था कि असुविधा के बदले क्षमा करना। यह सब देखकर वरांग राजा ने थोड़ा समय उसके साथ में चलने का निर्णय किया।

सार्थ की रक्षा के लिये सभी दिशाओं में नियुक्त रक्षकों ने शीघ्रता से वणिकों की गोष्ठी में आकर उनके प्रधान सागरवृद्धि से कहा कि—'यह अंगरक्षक अपनी-अपनी दिशा में तत्परता से निरीक्षण कर रहे थे तथा भीलों को देखकर डर गये थे। हे स्वामी! अत्यन्त शक्तिशाली, निकृष्टतम निर्दय, सम्भवत: न रोके जा सकनेयोग्य काल तथा महाकाल नाम से प्रसिद्ध पुलिन्दों के नायक, भीलों की चार हजार प्रमाण तीन सेनाओं के साथ अपने पर टूट पड़े हैं, ऐसी स्थिति में जो कुछ हितकारी हो, वह करने की आज्ञा प्रदान करो।'

सर्व दिशाओं में नियुक्त रक्षकों के उक्त समाचार सुनकर सार्थपति सागरवृद्धि ने अपने विश्वस्त पुरुषों तथा स्वामीभक्त

सेवकों को बुलाकर उत्साहवर्धक प्रशंसामय वाक्यों द्वारा भविष्य में उन्नति की आशा आदि से उनका सत्कार करके, उन्हें आज्ञा की कि वे सब युद्ध के लिये अतिशीघ्र तैयार हो जायें। अपनी सेना के सुभटों को युद्ध के लिये सुसज्जित देखकर तथा आक्रमण करनेवाली भीलों की तीनों सेनाओं के राग्यवाद्यों की ध्वनि सुनकर युवक राजा वरांग ने सेठ के समीप पहुँचकर कहा कि—'हे सार्थपति! ढाल के साथ एक उत्तम तलवार मुझे भी प्रदान करने की कृपा करो।'

सार्थपति ने उसे समझाया कि—'हे भद्रमुख! पहली बात तो यह है कि तुम सुकुमार युवक हो; दूसरी बात यह है कि बहुत कष्टों के कारण तुम दुर्बल और कृश हो गये हो तथा सम्भवत: तुम नहीं समझते कि युद्ध के सन्मुख जाना कितना कष्टकारक और कठोर है। हे वत्स! हथियार का क्या करेगा, मेरे साथ ही तू यहाँ बैठ।'

सार्थपति और पुलिन्दपति दोनों की सेना ऐसे तीक्ष्ण और घातक शस्त्रों से सुसज्जित थी, मानो चंचल बिजली का स्वरूप हो! काल और महाकाल दोनों पुलिन्दपति स्वयं भी अत्यन्त बलशाली और उग्र थे तथा उनके साथ बारह हजार निर्दय सेना थी। वे दोनों जंगली हाथी की भाँति बाणों की वर्षा बरसाते हुए सार्थपति की सेना पर टूट पड़े। सार्थपति की सेना ने भी भीलों की सेना को बाण से बेंध डाला। यह देखकर दोनों—काल और महाकाल का क्रोध अत्यन्त बढ़ गया और फलस्वरूप वे अत्यन्त रुद्र और उद्दण्ड हो गये। पुलिन्दभट और सार्थपति के योद्धाओं के घोर युद्ध से पहले तो ऐसा लगता था कि दोनों बराबरी से

लड़ते हैं, परन्तु तुरन्त ही पुलिन्दों का जोर बढ़ा और उनके द्वारा दबने से सार्थपति के सैनिक भय से आकुल-व्याकुल होकर बुरी तरह से हारने लगे।

सार्थपति के योद्धाओं को अचानक अपने घर-परिवार तथा अपनी प्राणप्यारी की याद आने पर विचार करने लगे कि हम तो न्यायमार्ग से धन कमाकर शान्तिपूर्वक जीवन जीनेवाले हैं; इन जंगलियों से युद्ध में पार नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार विचार कर उन्होंने बुरी तरह से भागना शुरु किया। अत्यन्त शक्तिशाली पुलिन्दों की विजयी सेना ने सार्थवाह की सेना को कीड़े-मकोड़े की तरह छिन्न-भिन्न हुआ समझकर अपने पुरुषार्थ में सफल होने के कारण असंख्य सम्पत्ति से परिपूर्ण सार्थ को 'इस ओर से... इस ओर से...' कहकर लूटना, काटना, मारना शुरु कर दिया।

इस लूटमार में लीन भीलों की सेना को देखकर प्रबल पराक्रमी युवक राजा वरांग के क्षोभ की सीमा नहीं रही। जिससे वे अत्यन्त ढीठ सिंह समान आवेश में आकर भीलों पर टूट पड़े। 'युद्ध में उतरे हुए इन नीच पुलिन्दों को खोज-खोजकर मारकर, विपत्ति में पड़े हुए वणिकों की रक्षा और पालन करूँगा अथवा लड़ते-लड़ते इन्हीं नीच पुलिन्दों के समूह में घुसकर, इनके प्रहारों से मरकर वीरगति चला जाऊँगा'—राजा वरांग ने ऐसा निर्णय किया। वहीं एक पुलिन्द उनके सामने से निकला। वरांग ने एक लात मारकर उसे पृथ्वी पर डाल दिया, क्योंकि उनके पराक्रम का न तो कोई प्रतिरोध कर सकता था और न कोई सहन कर सकता था! तथा तुरन्त ही उस सिंह समान शक्तिशाली राजा

वरांग ने उस गिरे हुए भील के हाथ में से ढालसहित तलवार खींच ली; फिर क्या था? शस्त्र चलाने में कुशल राजा ढंग से तलवार को चलाते हुए बाणों की वर्षा में घुस गया, तथापि अपने रण कौशल्य के कारण बाणों को व्यर्थ करता जाता था। थोड़ी ही देर में वह पुलिन्दपति के पुत्र के समीप जा पहुँचा।

युवराज पुलिन्द-काल व्यवस्थित युद्ध करने की शिक्षा से अछूता था; इसलिए उसने वरांग राजा पर जंगली मस्त हाथी की तरह आक्रमण किया। वरांग ने पुलिन्द पुत्र के इस बार को अपनी शस्त्रविद्या द्वारा रोककर सामने ऐसा प्रहार किया कि

काल के प्राण-पंखेरू वहीं उसका शरीर छोड़कर चले गये। काल का पिता साक्षात् यम की प्रतिमा होने से महाकालरूप से जाना जाता था। उसे जब अपने पुत्र की मृत्यु के समाचार प्राप्त हुए तो अत्यन्त क्रोध से भरकर वह स्वयं वरांग के साथ युद्ध करने लगा। उन दोनों के बीच थोड़ी देर युद्ध चला। पुलिन्दनाथ महाकाल अपने पुत्र की मृत्यु के कारण अत्यन्त क्रोध में था परन्तु युवक राजा वरांग युद्धकला में कुशल होने के कारण उसे महाकाल का कोई प्रहार नहीं लगा। पश्चात्, वरांग का क्रोध अत्यन्त वृद्धिंगत हो गया और महाकाल पर एक ऐसा ही प्रहार किया कि वह धरती पर गिर गया और वह भी उसके पुत्र का

वियोग दूर करने के लिये उसके पास जाता रहा अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

अपने सेनापति महाकाल की मृत्यु देखकर दूसरे पुलिन्द इतने भयभीत हो गये कि आधे तो भाग गये। कितने ही शरण में आ गये और शेष वरांग के हाथ से उनके सेनापति महाकाल से जाकर मिल गये अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार शत्रु तथा शत्रु सेना का मर्दन करके युवक राजा वरांग वापस समरांगण में आ गये। समरांगण में आते ही अपने शरीर पर लगे हुए अनेक घावों के कारण वरांग राजा बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े।

विजयी राजा वरांग के युद्ध में से वापस आने के समाचार सुनकर सार्थमति अत्यन्त ही आतुरता से उनसे मिलने के लिये भागता हुआ आया। उसने आकर देखा कि युवक वरांग आँख बन्द करके धरती पड़ा है। नजदीक आकर देखा तो पता पड़ा कि वह अभी बेहोश ही हुआ है परन्तु जीवित है। बाण और तलवार के प्रहार से अपने शरीर को भूषित करके अत्यन्त ही परिश्रम के कारण राजपुत्र अचेत होकर जमीन पर पड़ा था परन्तु स्वभाव से, लावण्य से भरपूर उनका शरीर उस अवस्था में भी आकर्षक था!

वरांग को ऐसी स्थिति में देखकर सार्थपति अत्यन्त दु:खी हृदय से कहने लगे कि —'हाय वत्स! तुझे क्या हो गया है? हे श्रेष्ठ! तू कुछ बोल, ऐसे मौन धारण करके आनन्दपूर्वक क्यों धरती पर पड़ा है? हे भद्र! उठो और शीघ्र हम सब पर कृपा करो! हे नाथ! कृपा करके प्रतिवचन बोलो। उठो, चलो! अभी तुम बालक ही हो, अनेक कष्ट सहन करने के कारण दुर्बल और

कृश हो गये हो। कोई साथी भी नहीं, पहनने के लिये कवच भी नहीं, तथापि साधारण वस्त्र पहनकर ही तुम अकेले ने ही शत्रु सेना को मारकर समाप्त कर दिया। कोई हीन इच्छा बिना और विशेष प्रयत्न बिना ही तुम मुझे अधम-ऋणी बनाकर इस लोक से जा रहे हो? तुम अत्यन्त उदार तथा कुशल हो! यह मुझ पर अपार उपकार किया और मैं कुछ न कर सका। इस समय तुम प्राणहीन होकर जाओगे तो मैं क्या करूँगा?'—इत्यादि वाक्य कहकर सार्थपति अत्यन्त करुण विलाप करने लगे।

इस दौरान दूसरे वणिकों ने उसे चन्दन का लेप लगाया, वैद्यों ने भी घाव भरने के लिये लेप लगाया और शीतल हवा करने लगे। थोड़ी देर में थकान दूर होने से राजा वरांग धीमे-धीमे आँख खोलकर बैठ गये। वरांग को जीवित देखकर सार्थपति सागरवृद्धि के हृदय सरोवर में प्रसन्नता की लहरें उठने लगीं। अपने ऊपर किये हुए उपकार के बदले में वरांग के लिये कुछ करने की भावना प्रबल होती थी; इसलिए उत्तमोत्तम लाखों रत्न तथा कोटि प्रमाण स्वर्ण लाकर उस अद्वितीय पराक्रमी राजा वरांग के सामने रख दिया।

भेंट के रूप में सामने रखी हुई विपुल सम्पत्ति को देखकर भी विवेकी वरांग को किंचित् भी आश्चर्य या कौतुहल नहीं हुआ क्योंकि वह तो स्वयं कुलीन था और इससे अनेकगुनी सम्पत्ति का स्वामी रह चुका था। सार्थपति की मानसिक भावना का अनुमान करके वरांग ने इतना ही कहा कि तुम यह धनराशि तुम्हारे इष्ट तथा प्रियजनों में वितरण कर दो। वरांग की सन्मति, लोभ द्वारा जीती नहीं जा सकती, इसलिए उनके कहे अनुसार ही

सार्थपति ने अन्य मुखियों से कहा कि जैसे कश्चिद्भट—वरांग कहे, तदनुसार करो।

❖ ❖ ❖

सार्थपति के साथ चलनेवाले वैद्यों ने उत्तम औषधियों से वरांग के घाव थोड़े ही दिनों में भर दिये थे। तत्पश्चात् अत्यन्त शुभमुहूर्त में सार्थपति ने आगे आनेवाले राष्ट्र में प्रवेश करने के लिये प्रयाण किया। उस समय नरेश्वर वरांग भी सागरवृद्धि के साथ एक पालकी पर चढ़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। सार्थ के साथ चलनेवाले नट, विट, याचक, पुरोहित आदि लोगों ने युवक वीर की विशाल कीर्ति को मार्ग में आनेवाले समस्त देशों में प्रसिद्ध कर दिया। विभिन्न गाँव, विभिन्न नगर तथा विविध राष्ट्र में यथासुविधा पड़ाव डालते हुए सागरवृद्धि सार्थ निर्विघ्न लाभप्रद वस्तुओं का व्यापार करते-करते उस नगर में जा पहुँचा, जहाँ से वह व्यापार के लिये निकला था।

नगर के सर्वश्रेष्ठ सागरवृद्धि सेठ अपार सम्पत्ति के उपार्जनरूपी कार्य में सफल होकर वापिस नगर में आ रहे हैं, यह समाचार सुनकर सम्पूर्ण नगर के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध आदि सभी लोग उनका स्वागत करने आ पहुँचे। सागरवृद्धि की श्रीमतीजी भी अपने पति को सफल यात्रा से वापिस आये हुए अपने पति के स्वागत के लिये अन्य स्त्रियों के साथ आयी थी। अभी तक कश्चिद्भट **( कोई योद्धा-क्योंकि वरांग का नाम अभी तक अज्ञात है )** की यशोगाथा सम्पूर्ण नगर में फैल गयी थी; इसलिए श्रीमती सागरवृद्धि भी अपनी सहेलियों के साथ पहले उसे देखने गयी। पवित्र स्नेहादि भावों से परिपूर्ण सेठानी को देखकर ही

कश्चिद्भट संकोच में पड़ गया; इसलिए उसे अपनी माता समान पूज्य मानकर उनका आदर करने के लिये तुरन्त खड़ा हो गया। साध्वी सेठानी ने भी उसे पुत्र से भी अधिक माना था। तत्पश्चात् उस पतिपरायणा ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जीवितेश के समीप जाकर शालीनता, शिष्टाचार और विनय से उनका स्वागत किया।

तत्पश्चात् सार्थपति ने भी अत्यन्त उत्साह से अपने बन्धु-बान्धवों, पत्नियों, पुत्रों, मित्रों से मिलकर उनके कुशल समाचार पूछे। नगर में समस्त मुख्य लोगों से प्रेमपूर्वक मिलने के पश्चात् उन्होंने अपनी यात्रा के विवरण के प्रसंग में पुलिन्द सेना के आक्रमण से लेकर कश्चिद्भट द्वारा उन सबकी मृत्यु तथा अपनी विजय तक की बात कही। यात्रा विवरण सुनकर नगर के अठारह श्रेणी के प्रधान तथा सागरवृद्धि ने सम्मानपूर्वक कश्चिद्भट का नगर में स्वागत किया और भेंट प्रदान की। जब सागरवृद्धि अपने घर पहुँचे, तब उन्होंने अत्यन्त वात्सल्य और आदरपूर्वक कश्चिद्भट को बुलाकर अपने घर में पड़ी हुई अनेक प्रकार की अतुल सम्पत्ति अलग-अलग करके दिखलायी तथा अपने परिवारीजनों से परिचित कराते हुए कहा कि ये तेरी बहिनें हैं, ये तेरे छोटे भाई हैं, यह तेरी माताजी है, यह तेरे सेवक आदि आश्रितजन हैं। ये सब पुत्र-मित्र तथा समस्त सम्पत्ति तेरे वश में ही है - ऐसा भेदभाव बिना समझ। सार्थपति ने इस प्रकार अपने आप सदा ही बढ़ती अपनी स्थावर तथा जंघम सम्पत्ति, सजीव तथा निर्जीव वैभव आदि कश्चिद्भट को दिखाकर अपने को कृतकृत्य माना। तत्पश्चात् बहुत समय अपने घर में कुटुम्बियों

के साथ उनके बीच रहकर सुख से जीवन व्यतीत किया।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार पर्याप्त समय व्यतीत होने के बाद एक दिन नगर के श्रेणियों के प्रधान सेठ सागरवृद्धि, शास्त्र से अनुकूल संयमी तथा विचारक अपने समव्यस्क वृद्धों से मत-विनिमय करके अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर कश्चिद्भट के घर में गया। आवश्यक शिष्टाचार के पश्चात् सेठ ने कश्चिद्भट के सन्मुख अत्यन्त शुद्ध प्रस्ताव रखा कि—'इस नगर के अनेक प्रमुख व्यवसायी ऐसे हैं कि जिनकी सम्पत्ति करोड़ों से अधिक नहीं परन्तु असाधारण हैं। तुम्हारे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुशिक्षा तथा सदाचार आदि गुणों को देखकर वे सब अपनी सुशील तथा स्वस्थ कन्याओं का तुम्हारे साथ विवाह करने को उत्सुक हैं। हमारा आग्रह है कि हे वत्स! तुम भी स्वीकार कर लो!'

कश्चिद्भट ने सेठजी को उत्तर दिया कि—'जब मेरे पूर्वजन्म में उपार्जित भाग्य ने मुझे छोड़ दिया था, मेरी सम्पत्ति और वैभव नष्ट हो गया था, शारीरिक बल का मूल भी चला गया था तथा जंगल में इधर से उधर भटकता फिरता था, तब किसी पुण्यकर्म के उदय से आपके साथ मुलाकात हो गयी; मेरे लिये इतना ही बहुत है। इन सबसे (कन्याओं से) क्या हो सकनेवाला है?'

यह सुनकर सेठजी ने फिर से आग्रह किया कि—'हे पुत्र! हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा ही है, संकोच छोड़कर उसका भोग करो। जिसे चाहो उसे दो तथा जिस प्रकार की अभिलाषा हो, उस प्रकार उसका उपयोग करो, परन्तु जो तुमने अभी कहा, वैसा मत कहो।'

पितातुल्य सेठजी द्वारा उक्त वचन कहे जाने पर विनम्रतापूर्वक कुमार ने कहा कि—'मैं मनचाहे खेलकूद करता हूँ, शिक्षित शिष्ट पुरुषों के साथ ज्ञानगोष्ठी करता हूँ और इस प्रकार से आनन्द से ही समय व्यतीत करता हूँ। यदि मेरे जीवन की यह रीति ही बहुत रोचक हो और मैं प्रसन्न हूँ तो फिर विवाह करने से क्या लाभ है? उससे मुझे मुक्त करो।'

इस उत्तर के आधार से सेठ, कश्चिद्भट के मन की बात समझ सके थे, इसलिए उन्होंने विचार किया कि जैसा चलता है, उस प्रकार ही चलने देना चाहिए। पश्चात् सार्थपति इधर-उधर की मनोरंजक बातें करके वापिस आये और अपने धर्म तथा कर्तव्यपालन में सावधानी से लग गये।

❖ ❖ ❖

इस घटना के थोड़े दिन पश्चात् नगर के सब वणिक श्रीमानों की पुत्रियाँ विहार के लिये उद्यान में गयी थीं। वहाँ उन्होंने बहुत आदर और भक्ति से कश्चिद्भट को आमन्त्रण दिया था। जब वे वहाँ पहुँचे, तब वे सब उत्तम कलश लेकर उनके बगल में खड़ी हो गयी और उन्हें सानुनय निवेदन करने लगी कि वे भी सेठ बनना स्वीकार कर लें। यह सुनते ही वरांग विचारों के भँवर में फँस गये।

राजा वरांग विचार करने लगे कि—देखो तो सही, यह कर्म की विचित्रता! यह निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा गजब का है! देखो, पहले जीवन के प्रभात में राजपुत्र था। पश्चात् धीरे-धीरे राजकुमार अवस्था पार करके युवराज अवस्था को प्राप्त हुआ और पश्चात् मैं स्वयं राजा हुआ। वहाँ अचानक राज्यसिंहासन से नीचे गिरा और सीधा जंगल में! वहाँ से वापिस अब सेठ

बना! यह कर्मों की विचित्रता तो देखो कि पूर्व के पुण्य के कारण राजा बना! पापकर्म के उदय से जंगल में गया! फिर वापिस पुण्य के उदय से सेठ बना! कहावत भी है कि 'कर्म से राजा, कर्म से रंक।'

**अरे! केवली भगवान तो कहते थे कि यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध वास्तव में कुछ वस्तु ही नहीं। जैसे कि पूर्व के पुण्यकर्म के उदय के निमित्त से मुझे राज्यपद मिला नहीं था परन्तु पुण्यकर्म का उदय होने की उस समय की योग्यता ही थी और उस समय इस वरांगकुमार को राजा बनना निश्चित ही था। पुण्यकर्म का उदय तो व्यवहार से निमित्त कहलाता है। बस! बाकी तो प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक समय की योग्यता-तत्समय की योग्यता ही मुख्य कारण है।**

**परद्रव्य मुझे सुखी या दुःखी कर ही नहीं सकता। वास्तव में होता ऐसा है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक समय का परिणमन अनादि से निश्चित है और उस परिणमन में मैं अनुकूल प्रतिकूल की विपरीत कल्पना करके सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ, परन्तु वह परद्रव्य का निश्चित परिणमन तो मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। मैं तो जाननेवाला हूँ, बस! अरे! केवली प्रभु ने ऐसा भी कहा है कि शुद्धनिश्चय से तो उस परद्रव्य को जाननेवाला इन्द्रियज्ञान-खण्ड-खण्ड ज्ञान है, वह भी परद्रव्य ही है। क्योंकि द्रव्य इन्द्रिय के निमित्त बिना उसे जानना नहीं होता! और मैं तो स्वतन्त्र-स्वाधीन, ज्ञातादृष्टा पूर्ण परमात्मा हूँ। मैं ज्ञायक, मुझे ही जानता हूँ और जो पर को जानता है, वह परद्रव्य है! आहा..हा..! गजब वीतरागी सिद्धान्त।**

❖ ❖ ❖

जब सेठ की पुत्रियों को अनुपम पराक्रमी कश्चिद्भट की विचारधारा का पता पड़ा तो उन्होंने मिलकर मंगल कलशों द्वारा श्रेष्ठी पद की आवश्यक विधियों को पूर्ण किया और ललित नगर के सेठों की प्रधानता का द्योतक पट् उन्हें बाँध दिया। इस प्रकार कश्चिद्भट वणिकों का नेता बन गया।

❖ ❖ ❖

अब हम उत्तमपुर का दृश्य देखें... जब वरांग को घोड़ा उठाकर भागा, तब राजा धर्मसेन सहित अन्य राजाओं, शिष्ट राजपुत्र, समस्त मन्त्रियों तथा सेनापति सहित सैनिक भी उस घोड़े का पीछा करते हुए बहुत दूर तक गये परन्तु घोड़े का वेग बहुत अधिक होने से, उस दुष्ट घोड़े को कोई रोक नहीं सका था और सबको राज्य में खाली हाथ वापिस आना पड़ा था। वरांग को खोजने में असफल सैनिक वापिस आकर कहते थे कि—'हे महाराज! वह दुष्ट घोड़ा इतना प्रबल और कुशिक्षित था कि उसे वश में करना असम्भव था। उस घोड़े को विपरीत आचरण की शिक्षा दी गयी थी।'

वापिस आये हुए सैनिकों की बात सुनकर राजा ने अपने समस्त बुद्धिमान तथा भक्त मन्त्रियों को बुलाया और कहा कि—'तुम लोग भले प्रकार से विचार करो कि वर्तमान राजमण्डल में अपना कौन ऐसा शत्रु है कि जिसने इस प्रकार से वरांग का अपहरण कर लिया है। यह अपहरण क्या अपने बीच में से किसी ने कराया है या किसी बाहर के शत्रु ने?'

इस प्रकार मन्त्रियों को वरांग के अपहरण के विषय में खोज करने सम्बन्धी आज्ञा प्रदान की और स्वयं भी अपने अनेक दूत

प्रत्येक नगरों में वरांग की खोज करने के लिये भेज दिये।

कुमार वरांग की खोज के लिये पीछे गये हुए बहुत से सैनिकों को कुएँ में गिरा हुआ मरा हुआ घोड़ा मिला किन्तु कुमार के अशुभ की आशंका का कोई चिह्न दिखलायी नहीं दिया। मार्ग में वरांग के हाथ-पैर के आभूषण प्राप्त हुए। उन्होंने वापिस आकर राजा धर्मसेन को समस्त विगत कह सुनायी और कुमार के प्राप्त कुण्डलादि आभरण बतलाये। पुत्र की विपत्तिरूप हिमपात के कारण सर्वदा विकसित राजा का मुखकमल भी म्लान हो गया। उनके मुखकमल को देखकर उस कमल का स्मरण होता था, जो कमल थोड़े समय पहले ही पूर्ण विकसित था परन्तु तुषारपान होने से थोड़े समय में ही मुरझाकर श्रीहीन हो गया था। जिस प्रकार जब नाग के मस्तक से मणि ले ली जाये अथवा मदोन्मत्त हाथी के आगे का दाँत तोड़ दिया जाये तो पूरा शरीर बलिष्ठ, स्वस्थ होने पर भी उसकी शोभा नष्ट हो जाती है; उसी प्रकार सहज कान्तिमान राजा, पुत्र के अपहरण के पश्चात् कान्तिहीन और निस्तेज प्रतीत होता था।

इस प्रकार महाराजा के निस्तेज हो जाने से कोई साहस करके अन्त:पुर में ये समाचार देने गया। वहाँ जाकर महारानी गुणदेवी को वरांगकुमार के समस्त समाचार कह सुनाये। समाचार सुनते ही महारानी गुणदेवी—'हा पुत्र! तुझे कौन हरण कर ले गया?' ऐसा कहकर बेहोश होकर धरती पर गिर पड़ी। उसे गिरते देखकर समस्त सेविकायें और दूसरी रानियाँ दौड़कर आयी और शीतोपचार करके रानी को जगाने लगीं। कुछ समय पश्चात् चेतना वापिस आने पर रानी करुण विलाप करने लगी कि—

'हाय दैव! यह दुर्घटना मुझ पर क्यों नहीं आ पड़ी? हे बेटा! तेरे बिना जी कर क्या फायदा? हे पुत्र! मेरे लिये तू ही तीन लोक की राज्य की प्राप्ति से होनेवाली प्रभुता और वैभव से भी बड़ा सुख था। हा! मैंने ऐसे सुपुत्र को खो दिया! अब तुझे याद करते हुए किस प्रकार जिऊँ? राजपद की प्राप्ति के कारण तेरा वह दैदीप्यमान प्रतापी स्वरूप मैं किस प्रकार भूलूँ? मैंने अन्य जन्म में हिरण के बच्चे को उसके माता-पिता से दूर किया होगा! इस संसार में देहधारी जीवों का जन्म लेना कितना रक्षा हीन है? कितना अनित्य है? कितना भयंकर सारहीन है, वह मैंने आज भलीभाँति अनुभव कर लिया है! पूर्वभव में आत्मा जो अच्छे-बुरे कर्म बाँधता है, उन कर्मों के फलरूप जीवों को सुख-दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। उसे न तो कोई रोक सकता है या न कोई वश में कर सकता है। मनुष्य तो क्या परन्तु, देव भी कर्म के उदय को रोक नहीं सकते।' इस प्रकार होनहार पुत्र का अकस्मात् वियोग हो जाने से उत्पन्न हुए दुःख ने राजा-रानी के सन्ताप को चरम सीमा से भी आगे बढ़ा दिया था।

युवराज वरांग की अनुपमा आदि पत्नियाँ शील तथा स्वभाव में देवों के अधिपति इन्द्र की इन्द्राणी-समान ही थी। जब उन्हें समाचार प्राप्त हुए कि कोई दुष्ट घोड़ा, युवराज को लेकर भाग गया है तो वियोग की कल्पना से ही वे अथाह भयसमुद्र में डूब गयीं। विषाद की तीव्रता के कारण उनके विकसित तथा सुन्दर मुखकमल म्लान लगते थे, आँखों में से आँसुओं की धारा बहती थी। वे हताश होकर यमराज को सम्बोधन करती थी कि—'हे कृतान्त! तू इतना निर्दय है कि तुझे निश्चय से स्त्री हत्या का दोष

लगेगा, क्योंकि तूने हमें हमारे स्वामी से अलग किया है, या तो हमें वहाँ ले जा, जहाँ हमारे स्वामी हैं अथवा उन्हें वापिस हमारे समीप ले आ; नहीं तो निश्चय समझ कि तेरे सिर पर स्त्री हत्या जैसे अधम दोष का टीका लगेगा!'

इस प्रकार वरांग के माता-पिता, पत्नियाँ तथा समस्त राज्य शोकाकुल होकर दु:ख सागर में बहुत समय तक डूबा रहा। थोड़े समय पश्चात् विवेक जागृत होने पर, 'धर्म ही एक शरण है'—ऐसा विश्वास लाकर - ऐसी श्रद्धा करके सभी धर्म कार्य में लग गये। राजा भी स्वयं युवराज वरांग को खोजने के लिये पूरी मेहनत कर रहे थे।

❖ ❖ ❖

इस ओर वरांग राजा ललितपुर में बाह्य सुख तथा आन्तरिक दु:ख के मिश्रित अनुभव को करते हुए विचित्र अवस्था में दिन व्यतीत कर रहा था।

उस समय मथुरा नाम की नगरी में इन्द्रसेन नामक प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। महाराज इन्द्रसेन का देवेन्द्रसेन नाम का बड़ा पुत्र, जिसे अपने पराक्रम, सैन्य आदि का बहुत अभिमान था, उसकी आधीनता आजू-बाजू के समस्त सामन्त राजाओं ने स्वयं आकर स्वीकार की थी। वे दोनों पिता-पुत्र, सूर्य-चन्द्र की भाँति राज्य करते थे। उनके सैन्य की कोई समानता नहीं कर सकता था। इस कारण से वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये थे। उन्हें अपने अनुचरों द्वारा ज्ञात हुआ कि ललितपुर के राजा के पास उत्तम हाथी है। उस हाथी की शक्ति का अनुमान करना कठिन था। वह हाथी इतना दृढ़ और विशाल था कि चलता-फिरता

पर्वत ही लगता था! उस हाथी का नाम मधुप्रभ था। राजा इन्द्रसेन, उस मधुप्रभ हाथी को ललितपुर के राजा से प्रेमपूर्वक न माँगकर छीन लेना चाहता था। अपने अभिमान से उसने अपने एक दूत को पत्र देकर ललितपुर भेजा।

दूत ने ललितपुर राजसभा में आकर इन्द्रसेन का पत्र दिया, जिसे पढ़कर राजा देवसेन अत्यन्त क्रोधित हो गया क्योंकि उस पत्र में कहीं 'साम नीति' का उपयोग नहीं हुआ था। पत्र पढ़ते ही देवसेन राजा के मान को ठेस पहुँची; इसलिए उसने वह पत्र धरती पर फैंक दिया। तदुपरान्त दूत का आधा सिर मुँडाकर अत्यन्त कठोर शब्द कहे और कहा कि—'तेरे राजा को कह देना कि यदि हिम्मत हो तो युद्ध करके हाथी ले जायें।'

ललितपुर से अर्ध मुण्डन कराकर वापिस आये हुए दूत को देखकर इन्द्रसेन के क्रोध का पार नहीं रहा। उसने कुछ पूछे बिना युद्ध की घोषणा कर दी और युद्ध की तैयारी करने लगा।

राजा इन्द्रसेन के प्रस्थान के साथ ही समस्त राजकुमार, जिनका प्रधान उपेन्द्रसेन था, तथा अन्य समस्त राजा अपनी विशाल सेना के साथ युद्ध हेतु चल पड़े। चलते-चलते उन्हें पता भी नहीं पड़ा कि वे शत्रु देश में आ गये हैं। शत्रु सेना जैसे ही ललितपुर में प्रवेश हुई कि मार्ग में जो कोई गाँव आदि थे, उन्हें नष्ट करने लगा। लूट-मार के कारण समस्त लोगों ने प्रधान नगरी में शरण लिया। इन्द्रसेन ने चारों ओर से ललितपुर को घेर लिया था।

ललितपुर को घिरा हुआ जानकर राजा देवसेन ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा कि—'मैं जानता हूँ कि इन्द्रसेन का सैन्यबल बहुत अधिक है, उसे वापिस धकेलना बहुत कठिन है।

ऐसी स्थिति में मैं उसे हाथी देना भी नहीं चाहता और उसके साथ युद्ध करना भी नहीं चाहता तथा राज्य छोड़कर भागना भी नहीं चाहता। अब जो कोई मार्ग हो, वह तुम विचारकर कहो।'

बहुत चर्चा के पश्चात् विजय नामक मन्त्री ने कहा कि—'इस समय युद्ध के अतिरिक्त दूसरे कोई मार्ग नहीं है।' बहुत तर्कों से विजय मन्त्री ने राजा को समझाया, जिससे राजा देवसेन उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और युद्ध के लिये तत्पर होकर युद्ध की तैयारी की आज्ञा प्रदान की। विजय मन्त्री चाहता था कि अपने राजा की विजय अवश्य हो, इसलिए उसने राजा की आज्ञापूर्वक सम्पूर्ण नगर में घोषणा करा दी कि—'जिसे राज - सम्मान प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा जो लोग राज्य का गौरव बचाने में अपनी सम्पत्ति का मोह परित्याग कर सकें तथा जिन्हें स्वयं पुरुष होने का स्वाभिमान है, वे सभी शीघ्रता से महाराज की सेवा में उपस्थित हों।'

उस समय कश्चिद्भट शत्रु सेना को निहार रहा था, जिसने राजा को चारों ओर से घेर लिया था। राजा की ओर से की गयी घोषणा सुनकर उसने विचार किया कि जो दूसरे को विपत्ति के समय मदद करता है, वही सच्चा बन्धु है और, महाराज देवसेन मेरे सगे मामा हैं तथा वे अभी शत्रु द्वारा पीड़ित हो रहे हैं। सगे-सम्बन्धियों का कर्तव्य है कि अपने कोई सगे-सम्बन्धी विपत्ति में हो और स्वयं भले चाहे जितना दूर हो परन्तु उनकी सहायता के लिए आना ही चाहिए, तो फिर मुझे मेरे कर्तव्य का ज्ञान होने से तथा मैं तो एकदम नजदीक होने से, मुझे सहायता अवश्य ही करना चाहिए।

कश्चिद्भट विचार करता है कि यदि मैं अभी ऐसा कहूँ कि मैं उत्तमपुर के अधिपति महाराज धर्मसेन का पुत्र वरांग हूँ - तो कोई मेरा विश्वास नहीं करेगा और मेरा अपमान होगा। यदि मैं वणिकों की ओर से युद्ध करने जाऊँगा तो वणिकपुत्र कहलाऊँगा और मेरे उत्साह की अवहेलना होगी। उसने विचार किया कि यदि मैं ऐसा कहूँ कि मैं एक अज्ञात योद्धा हूँ और समस्त प्रकार से शस्त्र चलाने में मैं कुशल हूँ - तो उसमें कुछ दोष नहीं और मेरे प्रताप द्वारा मुझे पहचान लिया जायेगा। इस प्रकार विचार कर घोषणा सुनते ही वह अत्यन्त उत्साह में आ गया और अपने पूर्वज सेठ सागरवृद्धि को बुलाकर आदरपूर्वक बैठाया तथा उनसे निवेदन किया कि—'मैं महाराज देवसेन के साथ समरभूमि में जा रहा हूँ, अत: मुझे स्वीकृति प्रदान कर विदा कीजिए।'

कश्चिद्भट के ऐसे वचन सुनकर धर्मपिता सागरवृद्धि आकस्मिक समाचार से कम्पित होने लगे। उन्होंने कश्चिद्भट से प्रार्थना की कि—'मैं तुम्हारी शूरवीरता को जानता हूँ तथा मैंने आँखों से भी देखा है कि तुम्हारे जैसा पराक्रम किसी का नहीं है, तथापि यदि तुम कुछ लाभ प्राप्त करने के लिये युद्ध में जा रहे हो तो तुम्हें जो अपेक्षित हो, वह सुख सामग्री मैं प्रदान करता हूँ। अपने घर में असंख्य कोटि स्वर्ण पड़ा है, तो हे वत्स! तुम्हें जो चाहिए, वैसे भोगों को भोग परन्तु इस युद्ध में जाने का निर्णय त्याग दो। प्रवास के समय भीलों के साथ का दारुण युद्ध याद करने से मैं काँप उठता हूँ; हे वत्स! युद्ध करने से लाभ क्या है ?'

धर्मपिता द्वारा उक्त प्रकार का निषेध होने से कश्चिद्भट ने विचार किया कि खेद का विषय है कि यह साधु स्वभावी सेठ,

शारीरिक और मानसिक बल से हीन है। बेचारा अपनी जाति के अनुकूल संस्कारों से भरा है और वैसी ही बातें करता है। मुझे भी यह अपनी ही जाति का समझता है। कश्चिद्भट ने कहा—'हे पिताजी! न तो मुझे सम्पत्ति का कोई प्रयोजन है और न मुझे राज्य से कोई मतलब! मैं तो संकट में पड़े हुए स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, आश्रमवासी साधु तथा आर्यिकाओं तथा श्रावक-श्राविकाओं की रक्षा करने के लिए इस युद्ध में जाना चाहता हूँ। प्रजा का कल्याण करने में राजा देवसेन के परिपूर्ण विजय को देखने की इच्छा से, शत्रु वध करने की अभिलाषा के कारण, तुम्हारा यश बढ़ाने के अभिप्राय से तथा अपना धर्मकर्तव्य पूरा करने की प्रेरणा से ही मैं समरभूमि में जा रहा हूँ; इसलिए आप मुझे जाने की स्वीकृति प्रदान करें।'

सागरबुद्धि सेठ ने पुत्र का दृढ़ निर्णय जानकर उसे मौनपूर्वक स्वीकृति प्रदान की तथा स्वयं कश्चिद्भट की ओर से राजा के समीप प्रस्ताव लेकर गया। उसे जाकर राजा से कहा कि—'हे महाराज! मेरा पुत्र आपकी ओर से युद्ध करना चाहता है। आपकी जो इच्छा हो, वह करो।'

विजय आदि मन्त्रियों ने उसके विषय में पहले से ही सुना हुआ था; इसलिए उन्होंने महाराज से कहा कि—'कश्चिद्भट के विषय में हमने पहले से ही बहुत सुना है। उसने एक साथ भीलों की बारह हजार प्रमाण सेना को पराजित कर दिया था; इसलिए वह इस वणिक सेठ का पुत्र नहीं हो सकता। उसमें वणिक होने का एक भी लक्षण नहीं है, इसलिए आपके साथ वह कश्चिद्भट शत्रुओं को अवश्य पराजित करेगा, इसमें आश्चर्य क्या?'

मन्त्रियों की यह बात सुनकर राजा ने आनन्दोत्साह से कहा कि—'युद्ध के लिये विजयभेरी बजाओ, जिससे शत्रुओं का हृदय काँप उठे।' पश्चात् विजयभेरी बजायी गयी और सबके साथ मन्त्रणा करके कश्चिद्भट को बुलाया गया। राजा का आमन्त्रण प्राप्त करके कश्चिद्भट के हर्ष की सीमा नहीं रही। वह तुरन्त ही अपने समव्यस्क मित्रों के साथ राजसभा में पहुँच गया। कश्चिद्भट और महाराज देवसेन एक-दूसरे को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। महाराज उसके शरीर पर शुभ लक्षण देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने कहा कि—'जो व्यक्ति भूपाल तथा उसके शासन विरुद्ध आचरण नहीं करता, राष्ट्र तथा राजा के विकासमय जीवन में उपस्थित हुए अनर्थों को शान्त करता है, घनघोर संग्राम में सब ओर से आक्रमण होने पर भी जिसका धैर्य और कर्तव्यबुद्धि अस्त नहीं होते, जो अकस्मात् ही कहीं से आकर युद्ध में सहायता करता है, वही सच्चा बन्धु है, वही पुत्र है, वही मित्र है तथा श्रेष्ठ गुरु भी वही है। यदि मैं मेरे पुण्यकर्म के प्रभाव से अथवा तेरे सौभाग्य से अथवा राज्य में बसनेवाले सज्जनों के शुभकर्मों के कारण इस युद्ध में शत्रु सेना को पराजित करके वापिस आऊँगा तो मेरी पुत्री के साथ आधा राज्य भी तुझे प्रदान करूँगा।'

इस प्रकार अपने अनुराग को वचनों द्वारा प्रगट करके ललितेश्वर ने रत्नों का हार, मुकुट, केयूर, कुण्डल, कमरबन्ध तथा पद का सूचक पट्ट बाँध दिया। तत्पश्चात् महाराज ने आज्ञा की कि सभी लोग शीघ्रातिशीघ्र युद्ध के लिये तैयार हो जायें।

❖ ❖ ❖

समरयात्रा के समय मदोन्मत्त हाथी पर बैठे हुए महाराज

देवसेन ऐसे लगते थे जैसे कि ऐरावत हाथी पर इन्द्र ! अप्रतिमल्ल नामक हाथी पर समस्त शस्त्रों से सहित कश्चिद्भट बैठा हुआ था। हाथी पर विराजित वह ऐसा लगता था मानो कि प्रातःकाल का सूर्य उदयाचल पर प्रगट हुआ हो।

दोनों सेनायें युद्ध में आमने-सामने आ गयीं। अत्यन्त क्रोध के कारण जैसे शंख फूँका गया कि तुरन्त ही दोनों सेना के योद्धा एक-दूसरे पर टूट पड़े। दोनों सेनायें एक-दूसरे पर भयंकर आक्रमण करके युद्ध कर रही थीं। दोनों सेनाओं के भट्ट स्वामीभक्त थे। अपने महाराज की विजय के लिये प्रतिज्ञा कर चुके थे। अपने राजा के प्रति राग तथा शत्रु दल के प्रति द्वेष से पूर्ण थे। इसलिए अत्यन्त वेग से परस्पर एक-दूसरे के अंग काट-काटकर फेंक रहे थे। इस प्रकार दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया था।

मथुराधिपति इन्द्रसेन के साथ जितने राजा थे, उनमें से बहुभाग के राजा तो अर्थ के लोलुपी थे। इन राजाओं को महाराजा देवसेन ने अर्थ का लालच देकर तोड़ लिया और अपने वश करके इन्द्रसेन से विरुद्ध करके उसकी थोड़ी ताकत तो ऐसे ही कम कर दी। महाराज देवसेन, इन्द्रसेन को व्यक्तिगत युद्ध में पराजित करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ऐसी व्यूह रचना की थी कि जो किसी भी ओर से तोड़ना असम्भव थी।

विजय मन्त्री की सेना ने थोड़ी ही देर में उपेन्द्र की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह देखकर उपेन्द्र अति रौद्ररूप धारण करके विजय मन्त्री की सेना पर टूट पड़ा। उपेन्द्र के आक्रमण से विजय परास्त जैसा हो गया। उसे देखकर कश्चिद्भट उसके

सामने आया और उपेन्द्र के साथ युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट निर्दयतापूर्वक शत्रु की सेना का संहार कर रहा था। उसे देखकर उपेन्द्र सैन्य ने हंसते-हंसते उससे कहा कि—'हे भद्रपुरुष! ललितेश्वर के आधे राज्य से तुझे क्या लाभ? राज्य करना तेरे वंश में अनुचित है। सुनन्दा को प्राप्त करके भी तू क्या करेगा? वह भी कालरात्रि के समान है। यहाँ राजा, राजा के साथ युद्ध करता है; इसलिए इस युद्ध में सम्मिलित होने के लिये तू योग्य नहीं है क्योंकि तू सार्थपुत्र है, इसलिए अब तू शीघ्र यहाँ से चला जा और अपने प्राणों की रक्षा कर।'

उपेन्द्रसेन के ऐसे वचन सुनकर कश्चिद्भट का हृदय विक्षत हो गया; इसलिए अत्यन्त क्रोधित होकर उसने कहा कि—'मैं तो जो हूँ, वह हूँ अथवा तू जो मानता है, वह हूँ, परन्तु उससे तुझे क्या मतलब है? मैं आज इस हाथी पर बैठा हूँ जो तुम्हें चाहिए था। अब मैं इसी हाथी पर बैठकर तुझे और तेरे पिता को यमलोक पहुँचाऊँगा, इसमें कोई शंका नहीं है।'

कश्चिद्भट के वचन सुनकर उपेन्द्र भी अत्यन्त क्रोधित हुआ और दोनों एक-दूसरे के सामने अपने हाथियों को लाकर घोर युद्ध करने लगे। एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे। दोनों योद्धा एक-दूसरे के हाथी को भी मारते थे, परन्तु कश्चिद्भट के हाथी को अधिक चोट नहीं लगी, जबकि उपेन्द्रसेन के हाथी का एक दाँत टूट गया तथा कश्चिद्भट द्वारा चक्र मारने से उसके अंग कटने लगे। उपेन्द्रसेन, कश्चिद्भट पर और कश्चिद्भट, उपेन्द्रसेन पर तोमर, बाण, चक्र, भाला आदि अलग-अलग शस्त्र फेंककर घोर युद्ध कर रहे थे। अन्ततः कश्चिद्भट ने इतने जोर

से चक्र फेंका कि उपेन्द्र का एक हाथ कट गया और ऐसा होने पर भी एक मुहूर्त तक उसने कश्चिद्भट के साथ युद्ध किया। अन्त में कश्चिद्भट ने उपेन्द्र की छाती में शक्ति मारकर तुरन्त ही उस पर कूद कर उसका सिर छेद दिया। उपेन्द्रसेन के प्राण निकल गये और उसके सैनिक कितने ही तो मारे गये और कितने ही कश्चिद्भट से डरकर भाग गये।

इस प्रकार घोर युद्ध होते-होते मथुराधीश तथा देवसेन भी आमने-सामने आ गये। एक-दूसरे को देखते ही उनके मुख विकृत हो गये। जंगल में यौवन के उन्माद से मत्त दो भीमकाय हाथी समान समर में लड़ने की अभिलाषा से वे दोनों एक-दूसरे के अति निकट जा रहे थे। वज्रसमान अभेद, अग्नि समान दाहक तथा विष समान मारक अनेक आकृति के शस्त्रों से अत्यन्त त्वरा से उन्होंने एक-दूसरे पर आघात करना शुरु कर दिया। इस समय तक दोनों के केतु कटकर गिर गये थे। दोनों के हाथी के पैर घायल गये थे। देवसेन ने चक्र उठाकर मथुरा के राजा पर छोड़ दिया। उस प्रहार से ललितेश्वर ने शत्रु के उस हाथी को ही काट दिया, जिस पर बैठकर वह उस पर गदा चला रहा था। अचानक उपेन्द्र के मृत्यु के समाचार सुनते ही इन्द्रसेन का क्रोध ज्वाला की भाँति बढ़ने लगा। अचानक युद्ध का स्वरूप बदलने लगा। इन्द्रसेन ने अकेले ने अपने अनेक शत्रुओं को मार दिया। देवसेन भी इन्द्रसेन के प्रहार से दबने लगे।

देवसेन को दबा हुआ देखकर कश्चिद्भट, इन्द्रसेन की ओर आया और उसके साथ भयंकर युद्ध करने लगा। कश्चिद्भट को युद्ध में सामने आया हुआ देखकर इन्द्रसेन के क्रोध का पार नहीं

रहा क्योंकि कश्चिद्भट ने ही उपेन्द्र को यमलोक पहुँचाया था तथा उसके हाथी को भी मारा था। क्रोध में आकर दोनों एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे, क्योंकि दोनों ने अपने शत्रु को मारने की प्रतिज्ञा कर ली थी। कश्चिद्भट अत्यन्त शीघ्रता से एक के पश्चात् एक बाण की वर्षा करता था। उसके बाण से इन्द्रसेन का धनुष टूट गया। इन्द्रसेन दूसरा धनुष उठावे, इतनी देर में तो कश्चिद्भट की बाण की वर्षा ने इन्द्रसेन का एक हाथ मूल में से काट दिया और बाण की चोट से वह जर्जरित हो गया। उसके सभी सैनिक इधर-उधर भागने लगे। ऐसी स्थिति से इन्द्रसेन की बुद्धि भी काम करना बन्द कर गयी और वह अत्यन्त भयभीत हो गया। वह हाथी से उतरकर घोड़े पर बैठकर वापिस भागने लगा। उसे भागते देखकर कश्चिद्भट को उस पर दया आयी और उसे भागने दिया। इन्द्रसेन के भागने से उसका सैन्य बल तितर-बितर हो गया।

महा मतिमान कश्चिद्भट समस्त शत्रुओं को पूर्ण पराजित करने के पश्चात् अपने तेज के कारण मध्याह्न के सूर्य की भाँति चमक रहा था। युद्ध पूर्ण होने के पश्चात् कश्चिद्भट ने राजा देवसेन के समीप आकर कमल समान उनके शुद्ध चरणों में मस्तक झुकाया। महाराज देवसेन ने उसे उठाकर अपनी छाती से लगाया। उस समय महाराज का मन सुख-सरोवर में डुबकी लगा रहा था। उन्होंने कश्चिद्भट से कहा—'हे आये! मैंने तुम्हारे पराक्रम को अपनी आँखों से देखा है। तुम्हारे समान अन्य कोई पराक्रमी इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकता।' पश्चात् उसी समय वहीं सेठ सागरवृद्धि का बहुत सम्मान किया तथा कश्चिद्भट

को हाथी पर बैठाकर उस पर राजाओं के योग्य छत्र लगाया गया। तत्पश्चात् सबने अत्यन्त उत्साह से राजधानी में प्रवेश किया।

❖ ❖ ❖

कश्चिद्भट को उत्तम हाथी पर बैठकर विजय होकर आते देखकर नगरवासी बहुत प्रसन्न हुए तथा उसे बहुत आशीर्वाद देने लगे। सार्थपति सागरवृद्धि भी महाराज देवसेन के साथ उत्तम हाथी पर बैठकर नगर में प्रवेश कर रहे थे।

तत्पश्चात् राजा ने सबका यथायोग्य सम्मान किया। महाराजा ने कश्चिद्भट तथा सार्थपति का विशेष सम्मान किया। तत्पश्चात् सब अपने घर पहुँचे। संग्राम से आने के बाद एक दिन पश्चात् ज्ञानी वृद्ध पुरुषों के साथ शान्तिपूर्वक बैठकर महाराज देवसेन अपनी पुत्री के विवाह के विषय में चर्चा कर रहे थे। निर्णय होने के बाद उन्होंने कश्चिद्भट को बुलाया। जब कश्चिद्भट आ गया, तब राजा ने सस्नेह उससे पूछा कि—'यदि तुम्हें कोई तकलीफ न हो तो में तुम्हारे माता-पिता के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ। हे वत्स! तू कान्तिमान है, तेरा तेज और सामर्थ्य असीम है तथा विज्ञान का साक्षात् भण्डार है। तेरी इन योग्यताओं के कारण ही तुम्हारी विशाल कीर्ति समस्त दिशाओं में व्याप्त हो गयी है। इन सद्गुणों के कारण मुँह से निकल ही जाता है कि तुम्हारे माता-पिता को धन्य है। यदि तुम्हें विशेष विरोध न हो तो अपने वंश के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करो।'

कश्चिद्भट दूसरे के मन के अभिप्राय को भलीभाँति समझता था, इसलिए वह महाराज का अभिप्राय समझ गया, परन्तु अपने

मुँह से अपनी प्रशंसा करने में उसे संकोच हो रहा था; इसलिए उसने अपने सम्बन्धी वास्तविकता छुपाकर कहा कि— 'महायशस्वी अनुपम वीर कश्चिद्भट ललितपुर के सार्थपति सागरवृद्धि का ज्येष्ठ पुत्र है, यह बात सम्पूर्ण जगत जानता है। मैं भी ऐसा ही कहता हूँ कि वे ही मेरे सर्वोत्तम सगे और पूज्य पिता हैं। हे महाराज! इस धरती पर मेरे दूसरे कोई पिता नहीं हैं - ऐसा आप नि:सन्देह समझें। आपके प्रश्न पूछने की शैली से मैं आपके हृदयगत अभिप्राय को समझता हूँ, मैं जानता हूँ कि मुझे मेरे वंश-कुल के सम्बन्ध में पूछने का कारण आपकी पुत्री है, क्योंकि पुत्री के विवाह प्रसंग में वर के सम्बन्ध में जानना तो आवश्यक है ही परन्तु आपकी रूप-गुणवती पुत्री आपके घर में ही रहे क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में मैं विवाह नहीं कर सकता, किन्तु आप यह निश्चित समझें कि मैं वणिक पुत्र ही हूँ।'

भरी सभा में कश्चिद्भट के शब्द सुनकर, इतना बड़ा सुअवसर त्यागकर भी उसकी आन्तरिक तथा बाह्य प्रसन्नता को लक्ष्य में रखकर महाराज देवसेन ने समझदारीपूर्वक कहा कि—'हे वत्स! युद्ध से पहले, आज की भाँति ही भरी सभा में मैंने स्पष्ट घोषणा की थी कि यदि तुम्हारे प्रताप से मैं मथुराधीश इन्द्रसेन को पराजित करूँगा तो मैं प्राणों से भी प्रिय पुत्री सुलक्षणा का विवाह तुम्हारे साथ करूँगा और साथ ही आधा राज्य भी प्रदान करूँगा। इस प्रकार की घोषणा करने के पश्चात्, अब उस पर तुम्हारी इच्छानुसार विचार करना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। जो राज्यसभा में घोषित किया गया हो, उससे विपरीत तो क्या, उससे कम कार्य करना भी राजाओं को शोभा नहीं देता।'

इस प्रकार वार्तालाप करने के पश्चात् राजा ने कश्चिद्भट को अपनी पुत्री प्रदान करने का निर्णय करके विवाह का दिन निश्चित कर दिया। विवाहोपलक्ष्य में सम्पूर्ण नगर को बहुत सजाया गया। राजा ने अपनी पुत्री का अत्यन्त धूमधाम से कश्चिद्भट के साथ विवाह किया और आधा राज्य भी प्रदान किया। इस प्रकार विवाह हो जाने के पश्चात् वर-वधू को विदाई के लिये अत्यन्त मूल्यवान पालखी में बैठाकर और सागरवृद्धि के घर पहुँचाया। सार्थपति के घर में उस नवदम्पति का अत्यन्त धूमधाम से स्वागत हुआ और अठारह दिन तक महोत्सव किया गया।

❖ ❖ ❖

पूर्व में उपार्जित पुण्य के फल को भोगनेवाला कश्चिद्भट भी इन सबमें फँसकर अपने पूर्व के बन्धु-बान्धवों को भूल गया था तथा नूतन सगे-सम्बन्धियों में घिरा हुआ रहकर प्रसन्नता से समय व्यतीत कर रहा था। बहुत समय कश्चिद्भट ने अपनी नवीन पत्नी राजपुत्री के साथ प्रसन्नता से व्यतीत किया।

एक दिन की घटना है कि कश्चिद्भट, महाराज देवसेन के साथ योग्य सेवा आदि जानने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश कर रहा था। संयोगवश सहजभाव से मनोरमा नामक किसी राजपुत्री ने उसे देखा। कश्चिद्भट के शुद्धरूप और परिपूर्ण

यौवन को देखकर उस राजपुत्री का मन उस पर आसक्त हो गया। फिर क्या था ? उसकी दैनिक क्रियाओं में भी वह आलस्य करने लगी, क्योंकि प्रेम पीड़ा से अनभिज्ञ वह भोली राजकुमारी, कामदेव का वार सहन नहीं कर सकी। उसकी हरकतों के कारण उसकी सखियाँ भी समझ गयीं कि इसे कामदेव सताता है।

राजनन्दनी नामक दासी उसके मनोभावों को समझ गयी, इसलिए उसने मनोरमा से कहा—'हे सखी! तू किसलिए ऐसे कष्ट सहन करती है ? कब तक रहस्य तेरे मन में रख सकेगी ? मुझे कहेगी तो मैं अवश्य तुझे सहायरूप होऊँगी।'

यह बात सुनकर मनोरमा ने कहा—'हे सखी! मुझे एकमात्र तेरा ही आधार है। जब मैंने महाराज के साथ कश्चिद्भट को अन्त:पुर में आते देखा है, तब से मुझे अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता; तू कुछ भी उपाय करके मुझे उनसे मिला दे। हे सखी! शीघ्र से शीघ्र तू मेरे इस कामदाह को शान्त कर।'

कमलाक्षी राजकुमारी का भाव जानकर उस सखी ने कहा कि—'आर्य! जितने भी उपाय सम्भव हैं, उन सब उपायों द्वारा मैं तेरे मनोगत कार्य को पूर्ण करूँगी।' थोड़े समय में ही उस कुशल सखी ने, किसी को भी ज्ञात न हो, इस प्रकार कश्चिद्भट से एकान्त में जाकर मिली और उसे मनोरमा की प्रेमगाथा पूर्णत: सांगोपांग कह दी।

परम सुन्दर तथा लक्ष्मीवान कश्चिद्भट, सखी के वचन सुनकर ही समझ गया था कि उसका प्रस्ताव अनैतिक और अनेक दोषों से युक्त था। वह व्रती होने से इस प्रकार के विषयों में मेरु समान अडिग था। उसने अत्यन्त विनयपूर्वक दासी से

कहा—'तुम्हारा प्रस्ताव सर्वथा अनुचित है। देवीजी! तुम्हारा प्रस्ताव किसी भी दृष्टि से युक्त नहीं है, ऐसा करना किंचित्मात्र भी शोभास्पद नहीं है। तदुपरान्त वरदत्त केवली ने अत्यन्त अनुग्रह करके मुझे स्वदारसन्तोषव्रत ग्रहण कराया था।'

कश्चिद्भट की बात सुनकर सखी बोली—'तुम अनुपम सुन्दर मनोरमा पर इसलिए अनुग्रह नहीं करते कि तुमने केवली के निकट व्रत ग्रहण किया है? यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हें किंचित् भी बुद्धिमान नहीं समझती। हे वीरवर! प्रत्यक्षरूप से सामने उपस्थित फल को छोड़कर आप परोक्ष स्वर्ग सुख की इच्छा रखते हो, इसलिए मेरी दृष्टि में तो आप मूर्ख ही हैं। ऐसे भी व्रतों का पालन करने से स्वर्ग ही मिलता है और स्वर्ग का सार भी देवकन्या ही तो है। तो फिर इतना कठोर व्रत धारण करके भविष्य में कन्या का सुख प्राप्त करो, इसकी अपेक्षा देवकन्या से भी अधिक सुन्दर मनोरमा को अभी अनुगृहीत करना अधिक योग्य लगता है।'

कश्चिद्भट ने मर्यादापूर्वक उससे कहा कि—'इस संसार में जो शुद्ध आत्मा शीलव्रत का पालन करनेवाले हैं तथा जो किसी भी परिस्थिति में होने पर भी, धारण किये हुए व्रत से चलित नहीं होते, वे समस्त संसार में आज भी पूज्य है। ऐसे चारित्रनिष्ठ आत्मा ही दूसरे भव में देव, असुर, तथा मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर निरन्तर, सतत तथा सम्पूर्ण लौकिक सुख प्राप्त करते हैं। जो शीलव्रत को धारण करते हैं, वे समुद्र में डुबाये जाने पर भी नहीं मरते; अग्नि की ज्वाला भी उन्हें नहीं जला सकती। देवों में भी इतनी शक्ति नहीं कि उनका अपमान कर सके तथा संसार

के समस्त ही विघ्न उनके मार्ग में आकर अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

दूसरी ओर देखें तो जिन्होंने अपना शील नष्ट किया है, वे इसी भव में स्थान-स्थान पर अपमानित होकर विविध प्रकार के अनेक दु:ख उठाते हैं। इस जन्म के उपरान्त आगामी भव में वे मूर्ख, नरक में उत्पन्न होते हैं तथा हे भद्र! वहाँ भयंकर से भयंकर दु:ख प्राप्त करते हैं, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है। अपने व्यवस्थित समाज में जो कोई भी शील की मर्यादा तोड़ता है, वह शासकों द्वारा महादण्ड प्राप्त करता है। यह सब सहन करके भी, किसी भी प्रकार से यहाँ अपना मुख दिखाने में समर्थ हो तो भी क्या? क्योंकि यश और दूसरा भव तो बिगड़ ही गया है न! मुझे ही देखो तो मैं स्वयं ही थोड़े समय पहले शीलव्रत के प्रताप से ही एक भयंकर मगर से बचा हूँ। यही सब कारण है कि जो मुझे ग्रहण किये हुए व्रत को तोड़ने के लिये असमर्थ कर देता है। यह भी विस्मृत करने योग्य नहीं है कि मैंने किसी साधारण व्यक्ति से व्रत धारण नहीं किया है, परन्तु साक्षात् केवली से यह व्रत धारण किया है।

अधिक से अधिक मैं इतना कर सकता हूँ कि यदि राजकुमारी के पिता महाराज देवसेन आज्ञा प्रदान करें तो उनकी पुत्री को धार्मिक विधि-विधान से ग्रहण कर सकता हूँ। ऐसा किये बिना यदि मैं कन्या को ग्रहण करूँ तो उससे सर्व साधारण में होनेवाले अपमान को मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वह यहाँ ही नहीं परन्तु परलोक में भी हितकारी नहीं होगा।'

जब कश्चिद्भट ने इन युक्तियों द्वारा मनोरमा की सखी द्वारा

समझाया तो तब उससे इस एक का भी उत्तर नहीं दिया जा सका, इसलिए वह वहाँ से वापिस सीधे राजपुत्री के समीप जा पहुँची। राजपुत्री को सांत्वना देने के लिये उससे कहा कि—'हे राजपुत्री! तुमने मुझे जो कुछ कहा, वह सब मैंने तुम्हारे प्रियतम को कह दिया है और वह तुम्हारे अनुकूल भी है, इसलिए हे साध्वी! अपनी सखियों के साथ तू आनन्दपूर्वक समय व्यतीत कर और अपना पूरा शृंगार कर। दो-तीन दिन में ही तू अपने प्रियतम के पास पहुँच जायेगी।'

मनोरमा ने कहा—'मुझे पता है कि मुझे सांत्वना देने के लिये ही तू ऐसा कह रही है।' ऐसा कहकर वह बहुत रुदन करने लगी। उसने कहा कि—'जब तक मुझे कश्चिद्भट की प्राप्ति न हो, तब तक मुझे कहाँ शान्ति मिलना है?' इस समय उस राजकुमारी की ऐसी अवस्था थी कि जैसी अवस्था उस बैल की होती है, जिसके बगल में भभकती अग्नि की ज्वाला उसके आगे के पत्ते को जलाती हुई आगे ही आगे बढ़ती जा रही हो!

वह विचार करती है कि इस जन्म में यदि मुझे कभी भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही हो तो सम्यक्त्व के प्रताप से इस सम्यग्दृष्टि कश्चिद्भट के साथ ही मेरा विवाह होगा। अथवा यदि मुझे किसी पुरुष के निकट जाना हो तो वह कश्चिद्भट ही होगा। यदि ऐसा होना अशक्य हो तो सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान की उपासना करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। श्री जिनेन्द्र द्वारा उपदेशित धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। वह धर्म, स्वर्गरूपी उन्नत स्थान पर पहुँचाने के लिये सुखकर सीढ़ी समान है। इस प्रकार दृढ़ निर्णय करके, अपने धारण किये हुए व्रतों का ध्यान करते हुए अपने

प्रेमी का ध्यान करती वह पड़ी थी। ऐसी दशा देखकर निकटवर्ती प्रियजनों को अत्यन्त चिन्ता हो गयी थी।

❖ ❖ ❖

इस दौरान राजा वरांग का दुष्ट घोड़े द्वारा अपहरण होने से राजा धर्मसेन अत्यन्त चिन्तित थे। सभी मन्त्रियों ने विचार-विमर्श करके राजा की प्रिय पत्नी के पुत्र सुषेण को ही राज्यपद प्रदान करने का निर्णय किया और राजा की सम्मति से उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन किया गया। राज्यपुत्र सुषेण को जैसे ही राज्यपद मिला कि उसका मुख पूर्ण विकसित नूतन कमल जैसा हो गया। अपनी मानसिक इच्छा पूर्ण होने से उस समय उसकी शोभा असाधारण वृद्धिगत हो गयी। उसका चित्त राज्य सम्बन्धी दायित्वों की अपेक्षा विषयभोग और रंग-राग में अधिक आकृष्ट था, जिससे वह थोड़े समय से अधिक अपने राज्य को उपद्रव आदि अनर्थों से नहीं बचा सका और स्वयं भी आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत नहीं कर सका।

एक दिन राजा सुषेण को समाचार प्राप्त हुए कि उसके राष्ट्र (राज्य) पर किसी शत्रु की सेना ने आक्रमण कर दिया है तथा शिष्ट सज्जन नागरिकों का अपमान कर रहे हैं। यह सुनते ही तुरन्त ही संग्राम करने का निर्णय करके, सेना को लेकर स्वयं ही शत्रु के सन्मुख गमनशील हुआ। सुषेण ने अत्यन्त तत्परता तथा युक्ति से शत्रु के समक्ष घोर युद्ध किया परन्तु शत्रु राजा ने क्रोध से भरकर सुषेण की सेना पर प्रति आक्रमण करके उसे सब ओर से घेर लिया। इस कारण उत्तमपुर की अजेय सेना का अनुशासन टूट गया और वह सेना ऐसे-वैसे नष्ट होने लगी। अन्त में सुषेण

शत्रु से रण में पराजित हो गया और एक घोड़े पर बैठकर भागकर अपनी राजधानी में चला गया।

शत्रु की सेना के मार से अपने पौरुष और पराक्रम को धूल में मिलाकर डरपोक की तरह राजधानी में भागकर आनेवाले अपने पुत्र को देखकर महाराज धर्मसेन को अपने पुत्र वरांग की याद आ गयी। वे मन ही मन में वरांग के पराक्रम को स्मरण करते हुए दु:खी होने लगे।

शत्रु राजा को यह समाचार विदित हुए कि भय के कारण सुषेण समरांगण में से भाग गया है और महाराज धर्मसेन वृद्धावस्था के कारण अत्यन्त दुर्बल हैं तो वह उत्तमपुर की विशाल अश्व, रथ तथा गज सेना, अत्यन्त विस्तृत देश तथा विपुल धनराशि से परिपूर्ण कोष ग्रहण करने के लोभ से बच नहीं सका; फलस्वरूप उसने शीघ्रता से राजधानी की ओर आगे बढ़ना शुरु किया। इस प्रकार आगे बढ़ती उसकी सेना ने आधे उत्तमपुर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने दूत को सन्देश लेकर भेजा कि—'उत्तमपुर का जितना भाग अभी हमारे अधिकार में है, वहाँ तक की नयी सीमा बनाकर विभाजन किया जा सकता है।'

शत्रु का कठोर तथा अशिष्ट वाक्यों से भरपूर पत्र पढ़कर महाराज धर्मसेन क्रोध के आवेश से लाल हो गये। उन्होंने क्रोध में आकर कहा कि—'उनके वंश में क्रम से चली आ रही राजभूमि की सीमा निश्चित है और इतनी ही भूमि उन्हें पर्याप्त भी है। इस समय अहंकार में पागल होकर अथवा जो वह इतने ही राज्य से सन्तुष्ट नहीं होगा तो मैं निश्चय से उस अहंकारी को युद्ध में मारूँगा और उसके कुल क्रमागत राज्य को भी किसी

दूसरे ऐसे राजा को सौंप दूँगा जो मेरी आज्ञा मानता होगा।' इस प्रकार अतिक्रोध में दूत को कहकर भेज दिया तथा पीछे ही अपनी चतुरंग सेना लेकर निकल पड़े।

एक योजन चलकर विश्राम के लिये पड़ाव डाला। वहाँ उनके मुख्यमन्त्रियों ने एकत्रित होकर विनयपूर्वक महाराज के समीप जाकर उनके हित की भावना से प्रेरित निवेदन किया कि—'हे महाराज! जहाँ तक आपके पराक्रम और शक्ति की बात है तो उसे तो सम्पूर्ण संसार जानता है तथा आज तक किसी ने उसका उल्लंघन नहीं किया है। इसलिए आपको निवेदन का कारण यह है कि इस समय हम प्रतिशोध लेने की पूर्ण तैयारी के साथ नहीं आये हैं। आपके शत्रु अधिक नहीं हैं और ऐसा होने पर भी आप उसे तब ही जीत सकेंगे, जब आप अपने मित्र राजाओं को बुलाकर एकत्रित करेंगे। शत्रुओं के मान का मर्दन करनेवाले ललितपुरनगर के प्रसिद्ध राजा देवसेन आपके परममित्र ही नहीं परन्तु आपके सम्बन्धी भी हैं। इसलिए दूत को अभी ही भेजकर समाचार दीजिये, जिसे पढ़कर वे तुरन्त ही यहाँ दौड़े आयेंगे, इसमें सन्देह नहीं है।'

मन्त्रियों की न्याययुक्ति सम्मत बात सुनते ही राजा ने कहा कि—'हे मन्त्रीवर! तुम यह सब कार्य शीघ्र शुरु कर दो।'

❖ ❖ ❖

महाराज धर्मसेन का दूत शीघ्र ही ललितपुर पहुँच गया और राज्यसभा में पहुँचकर अपने राजा का पत्र महाराज देवसेन को प्रदान किया। महाराज देवसेन ने वह पत्र पढ़ा और पढ़ते ही सारी परिस्थिति समझ गये। वे तुरन्त ही दूसरे एकान्त गृह में गये

और वणिक राजा कश्चिद्भट को बुलाकर वरांगकुमार का घोड़े द्वारा अपहरण से लेकर दुश्मनों द्वारा चढ़ाई तक की सारी वार्ता कह सुनायी।

राजा देवसेन ने कहा—'हे कश्चिद्भट! तुम पूर्ण रीति से इस राजधानी तथा पूर्ण राज्य की उपद्रवों से मुक्त होकर रक्षा करते हुए यहीं रहो। मेरे मित्र तथा सम्बन्धी पर विपत्ति आ पड़ी है, इसलिए मैं उनकी सहायता के लिये जाना चाहता हूँ।'

महाराज देवसेन का यह निर्णय सुनते ही कश्चिद्भट बोल पड़े कि—'हे गुणसागर! सामने रखा हुआ पत्र पिताजी ने भेजा है, उसे ध्यान से देखो।'

महाराज देवसेन ने पत्र फिर पढ़ा। जैसे-जैसे पत्र पढ़ते गये, वैसे-वैसे कश्चिद्भट की आँखों में से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसे देखकर महाराज समझ गये कि यह कश्चिद्भट ही कुमार वरांग है। उन्होंने तुरन्त ही खड़े होकर वरांग को छाती से लगाया। महाराज ने वरांग को यह भी कहा कि—'हे कुमार! आपके निमित्त से ही मेरे द्वारा बड़ी (युवा) हुई सौ पुत्रियाँ हैं, जिन्हें तुम ग्रहण करो।' युवराज वरांग ने महाराज के प्रस्ताव को सुनकर कहा कि—'मैं आपकी एक सुनन्दा पुत्री से ही परम सन्तुष्ट हूँ।'

ललितेश्वर को अपने दामाद के वचन सुनकर मात्र आनन्द ही नहीं होता था परन्तु उनकी बात भी मानते थे; इसलिए उन्होंने वरांग को बीच में ही बोलने से रोकते हुए कहा कि—'भले बेटा! परन्तु समस्त गुणों से पूर्ण, विकासरूपी भूषणों से अलंकृत मेरी परमप्रिय पुत्री मनोरमा को तो अवश्य ग्रहण करो।' कुमार

वरांग स्वभाव से उदार थे, इसलिए मामा के उक्त प्रस्ताव को उन्होंने मान लिया। उनकी अनुमति मिलते ही विवाह की सभी तैयारियाँ शीघ्र ही की गयीं और वरांग का मनोरमा के साथ विवाह हुआ।

तत्पश्चात् अनुपम पराक्रमी युवराज वरांग अपने पिता की राजधानी उत्तमपुर जाने के लिये अपने सार्थपिता की अनुमति प्राप्त करने हेतु उनके निकट गये। उन्होंने कहा कि—'हे पूज्य! जब मैं गहन वन में ठोकर खाकर घूम रहा था, कोई सहायक या मित्र नहीं था, मेरे पिता भी मुझे सहायक नहीं हो सके थे, उस समय आप ही मेरे पिता हुए थे। इसलोक तथा परलोक दोनों में कल्याण करनेवाले आप ही मेरे सच्चे गुरु हो। महाराज देवसेन की अभी क्या इच्छा है, वह तो आप जानते ही हो। मैं भी उनके साथ युद्ध में जाने के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हूँ, परन्तु मेरी इच्छा से नहीं किन्तु आपकी सम्मति से जाना चाहता हूँ।'

धर्मपिता सार्थपति ने पुत्र के विनयपूर्वक के वचन सुनकर कहा—'हे सुमते! तुम्हारे बिना मैं भी यहाँ जीवित नहीं रह सकूँगा। तेरे कारण आज मैं पूरे राज्य के लिये इतना मान्य हो गया हूँ कि जिसकी तुलना करना ही असम्भव है। जब तू मुझे छोड़कर चला जायेगा तो तू ही बता कि मैं किसके आधार से जिऊँगा? हे सुमेरु समान धीर-गम्भीर पुत्र! तू जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ मुझे साथ ले जा।' धर्मपिता सागरवृद्धि की बात सुनकर युवराज वरांग ने कहा कि—'जैसी आपकी आज्ञा।'

❖ ❖ ❖

तत्पश्चात् महाराज देवसेन के साथ वरांग तथा सेठ सागरवृद्धि

सहित सम्पूर्ण सैन्य युद्ध के लिये उत्तमपुर जाने को निकल पड़ा। उत्तमपुर पहुँचकर पहले सागरवृद्धि सेठ, महाराज धर्मसेन के समीप गये और महाराज देवसेन के आगमन के समाचार कह सुनाये तथा सैन्य के प्रमाण के साथ युवराज वरांग की भी सभी बातें कीं। सार्थपति ने यह भी कहा कि—'हे राजन्! यही आपका पुत्र वरांग है।' यह बात सुनते ही महाराज धर्मसेन की प्रसन्नता की सीमा न रही, और उन्होंने सागरवृद्धि का बहुत ही सम्मान किया।

अपने खोये हुए पुत्र के समाचार सुनकर उससे मिलने की आतुरता के कारण महाराज धर्मसेन अपनी चतुरंग सेना लेकर उससे मिलने गये। उसके निकट पहुँचते ही उनका स्वागत हुआ और महाराज धर्मसेन, युवराज वरांग तथा महाराज देवसेन के गले मिले। अत्यन्त दीर्घ अन्तराल के पश्चात् अपने प्रिय साले को तथा सदा के लिये खोये हुए अपने पुत्र को देखते ही महाराज धर्मसेन को ऐसा आभास हुआ कि आज मैंने इस विशाल पृथ्वी को जीत लिया है, जिसकी सीमा लवण महासमुद्र है। वह पूरा दिन तो बातें करते-सुनते हुए ही व्यतीत हो गया। पश्चात् महाराज धर्मसेन ने संध्या के समय कुमार वरांग को आज्ञा प्रदान की—'हे वत्स! रात्रि आराम से व्यतीत होने के पश्चात् जब सूर्योदय हो, तुरन्त ही प्रातःकालीन सभी विधि करके राजधानी की ओर प्रस्थान कर देना। नगर में प्रवेश करने के बाद शीघ्र ही सर्व प्रथम अपनी माता से मिलना।'

युवराज वरांग स्वभाव से ही दारुण योद्धा था; इसलिए महाराज की आज्ञा सुनते ही उसने कहा—'हे नाथ! जो शत्रुरूपी अतिथि

युद्ध करने के लिये आया है, पहले मैं उसका शस्त्रों से स्वागत करूँगा। इस प्रकार उसका स्वागत करने के पश्चात् ही मैं राजधानी में प्रवेश करूँगा।'

❖ ❖ ❖

सुषेण के विजेता वकुलेश्वर को जब महाराज देवसेन के कुमार वरांगसहित आने के समाचार उनके गुप्तचरों के द्वारा प्राप्त हुए, तब उनकी सेना का प्रमाण और कुमार वरांग का नाम सुनकर वह वापस अपने राज्य की ओर भाग गया। इस ओर महाराज धर्मसेन के गुप्तचर, वकुलेश्वर की सेना का प्रमाण जानने आये थे, वही उन्हें पता लगा कि वह तो अपनी सैन्यसहित भाग गया है। यह प्रसन्नता के समाचार देने के लिये गुप्तचर शीघ्र ही वापिस आये। समाचार सुनते ही तीनों राजाओं की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। तुरन्त ही राजा की आज्ञा से विजय दुन्दुभी बजायी गयी। तत्पश्चात् सबने नगर की ओर प्रयाण किया।

राज्यभवन में पहुँचते ही सबका भव्य स्वागत हुआ तथा अपने पिता, मामा और मन्त्रियों के आग्रह से वरांग का पुनः राज्याभिषेक किया गया और उसे राज्यभार सौंप दिया गया। यद्यपि वरांग की इच्छा कुछ दूसरी थी परन्तु सबके आग्रह के कारण इस समय वह कुछ बोल नहीं सका। तत्पश्चात् वह अत्यन्त प्रेम से अपनी माता, बहिनों, पत्नियों से मिला और आराम से सभी बातें करके उन्हें प्रसन्न किया।

देखो, संसार की विचित्रता! पहले अधम कुमन्त्री की सम्मति मानकर तथा पूर्वजन्म के किये हुए अपने कुकर्मों के फल का उदय आने से वरांग को जंगलों में भटकना पड़ा तथा पूर्व कर्म के

पुण्य के उदय से ही फिर वापिस आज वही सिंहासन पर बैठा है, जहाँ से वह नीचे गिरकर जंगल में भटकता था।

***इस मनुष्य योनि में जीव पर बहुत विपत्तियाँ आती हैं, घोर संकट आ सकते हैं। विपुल सम्पदाओं का समागम होता है, कभी वियोग है तो कभी संयोग है; एक समय समृद्धि है तो दूसरे ही समय सर्वतोमुख हानि है परन्तु जो सज्जन प्राणी श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हैं; तीन लोक में क्या सार है, उसे भलीभाँति जानते हैं; जिनका आचार-विचार उदार है; शुद्धि युक्त मार्ग की आराधना करते हैं तथा निर्दोष आचरण का पालन करते हैं, वे ही महापुरुष इस भव तथा परभव में निश्चय से सुख प्राप्त करते हैं।***

❖ ❖ ❖

बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन ललितेश्वर महाराज देवसेन, धर्मसेन के निकट गये और वापिस अपनी राजधानी जाने की इच्छा व्यक्त की। महाराज धर्मसेन ने अत्यन्त प्रेम से अनेक भेंट प्रदान कर उन्हें विदा किया।

अब वरांग के राज्य में सब ही सुखी थे; मात्र सुषेण, उसकी माता और कपटी मन्त्री को छोड़कर। क्योंकि इन तीनों ने अकारण ही राजा वरांग के प्रति घोर अपराध किया था। वे विचार करते थे कि अनुपम पराक्रमी तथा असहाय तेजस्वी राजा वरांग के धर्म को धन्य है तथा उनकी क्षमाशक्ति और गम्भीरता का तो कहना ही क्या? कि पूर्ण प्रभुत्व मिलने पर भी अपने पर-सुनिश्चित अपराधियों पर करुणाभाव ही प्रदर्शित करते हैं और अपने जैसे दुराचारियों को भी सुखपूर्वक रहने देते हैं।

मन्त्री ने रानी तथा सुषेण दोनों को कहा कि—'अपने को ऐसे समय में वृथा अभिमान छोड़कर राजा वरांग से क्षमायाचना करने और उनके दर्शनार्थ अवश्य जाना चाहिए। देखो, तुम दोनों ने पहले भी मेरी सलाह नहीं मानी थी, जिसका फल सामने ही है।' पश्चात् तीनों ने मनविनिमय करके नूतन राजा से माफी माँगने का निर्णय किया, तथापि वे इस आशंका के कारण अत्यन्त भयभीत थे कि यदि राजा दण्डित करेगा तो! ऐसी अवस्था में ही वे लोग एकान्त स्थान में विराजमान राजा वरांग के समीप पहुँचे।

वहाँ जाकर उन्होंने कहा—'हे प्रभु! तुमने मन से भी हमारा कुछ बिगाड़ नहीं किया था, तथापि नीच कार्य करने में हम दुरात्माओं ने आपके प्रति महान नीच अपराध किये हैं, परन्तु हम जीवित रहना चाहते हैं और इसी आशा से हम आपकी शरण में आये हैं। हे नाथ! इस समय हमारे जैसे पतितों पर दया कर हमें क्षमा करके प्रसन्न होओ।'

राजा वरांग ने जब अपनी सौतेली माता को आते हुए देखा, तब उन्होंने आसन परित्यागकर प्रणाम करके कहा कि—'तुम ऐसा अनुचित विनय मत करो।' पश्चात् वह सुषेण से गले मिला और मन्त्री को कहा कि—'तुम किसी भी प्रकार का भय मत करो।' इस प्रकार कहकर सबको धैर्य बँधाया। जिन लोगों ने इस धरती पर मुझसे विरुद्ध आचरण किया है अथवा मुझसे संग्राम करने का दु:साहस किया है, उन्हें मैं ढूँढ़कर यमलोक पहुँचा देता हूँ परन्तु जो मेरी आज्ञानुसार आचरण करते हैं, उनका मैं सब प्रकार से पालन पोषण करता हूँ – ऐसा मेरा दृढ़ मानना है।

**जो साधु स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियों को भी क्षमा कर देते**

**हैं, जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये थे, उन सज्जन प्राणियों को ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं, परन्तु घातक अपराध करनेवाले के साथ भी जो विशेष व्यवहार इसीलिए किया जाता है कि वे अपराधी अनेक गुण और कलाओं का भण्डार है। ऐसी क्षमा को तो दैवकृत क्षमा ही समझना चाहिए।**

वरांग के नीतिपूर्ण उदार वाक्यों से सुषेण, उसकी माता तथा मन्त्री, ये तीनों निश्चिन्त हो गये। उनकी अनिष्ट की आशंका और शोक बिल्कुल नष्ट हो गये। युवराज के अनुपम क्षमाभाव ने सुषेण आदि तीनों के हृदयों को मैत्रीभाव से रंग दिया। उनके चले जाने के पश्चात् युवराज वरांग अपने धर्मपिता सागरवृद्धि के साथ अपने पिता महाराज धर्मसेन के निकट गये।

युवराज वरांग ने पिता से कहा—'हे महाराज! अपने पूर्वजों के समय से चले आ रहे इस उत्तमपुर पर आपका शासन तो है ही; मेरे सौतेले भाई सुषेण का भी आधे राज्य पर जन्मसिद्ध अधिकार है। तदुपरान्त आप सबके प्रताप से मुझे भी इस पद नियुक्त कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान में तीन राजा यहाँ विद्यमान हैं। अब आप ही कहो कि एक ही नगर में तीन राजा किस प्रकार रह सकते हैं? हे जनक! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके श्रीचरणों के प्रसाद से मैं मेरे राज्यभाग में वर्तमान में मनुष्यों की बस्ती से सर्वथारहित वन को लेकर नये नगरों को बसाऊँगा, यदि आपका मुझ पर सच्चा स्नेह हो तो मुझे जाने की आज्ञा प्रदान करें। किसी भी कारण से मुझे रोकें नहीं।'

पुरुषार्थी पुरुष सिंह के लिये सर्वथायोग्य पुत्र के वचन सुनकर

महाराज धर्मसेन ने उत्तर दिया—'हे पुत्र! वास्तव में तू ही मेरा पुत्र कहलानेयोग्य है। वृद्धावस्था में मुझे तुम्हारा ही सहारा है और तू ही मेरे जीवन के अन्तिम दिनों का भले प्रकार निर्वाह कर सकता है। इन सब कारणों से तुम्हारा हमें छोड़कर चले जाना शोभा नहीं देता।'

पूज्य पिता के हृदय में से निकले हुए शब्दों को सुनकर वरांग ने इतना ही कहा कि—'हे महाराज! मुझे पता है कि आपको मेरे प्रति अधिक स्नेह है, तथापि मेरा मन ऐसा ही करने के प्रति प्रेरित है; इसलिए आपसे निवेदन करता हूँ कि आप मुझे नूतन देशों को जीतने की आज्ञा अवश्य प्रदान करें।'

युवराज वरांग के वचन सुनकर राजा को स्पष्ट हो गया कि उनके प्राणप्रिय पुत्र ने विजय यात्रा पर जाने का निर्णय कर लिया है। तब राजा ने उससे कहा—'हे पुत्र! तेरे सब मनोरथ शीघ्र पूर्ण हों।' आज्ञा प्राप्त होते ही युवराज वरांग ने पिता और धर्मपिता दोनों के चरणों में प्रणाम किया तथा अपनी माता आदि समस्त सम्बन्धियों से मिलकर आज्ञा प्राप्त कर ली। इस कार्य से निवृत्त होकर उसने उन्हीं लोगों को अपने साथ जाने की आज्ञा की कि जो प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक उसका साथ देना चाहते थे। जब सभी तैयारियाँ हो गयीं, तब महावैभव के साथ उसने उत्तमपुर से प्रयाण किया। महाराज धर्मसेन की आज्ञा से अनुभवी तथा कुशल सेनानायक, योद्धा, मन्त्री तथा असाधारण विद्वान जो कि पुत्र के नूतन राज्य के भार को सहज सम्हाल सकें, ऐसे सभी कर्मचारी वरांग के पीछे-पीछे चलने लगे।

चलते-चलते वे मणिमन्त पर्वत पर पहुँचे। सरस्वती नदी

और मणिमन्त पर्वत, इन दोनों के बीच जो विशाल अन्तराल है। उस भूमि पर प्राचीन समय में श्रीकृष्ण महाराजा ने कंस को मारकर आनर्तपुर नगर बसाया था। इस प्राचीन इतिहास का जब वरांग को परिज्ञान हुआ तो उन्होंने राजनीति आदि शास्त्रों के पारंगत तथा सूक्ष्म विचारक अनन्तसेन आदि अनुभवी मन्त्रियों के साथ चर्चा करके उसी स्थान पर पहले की तरह ही नगर का निर्माण कराया।

राजा वरांग के पूर्व पुण्य के उदय के प्रताप से जब आनर्तपुर के निर्माण सम्बन्धी समाचार चारों ओर प्रसारित हुए तो यह सुनते ही समस्त दिशाओं से महासम्पत्तिशाली सज्जन लोग उस नगर में आये। राजा वरांग ने जो-जो कार्य करने का निश्चय किया था, वे सब पूर्ण हो गये। एक दिन सुखपूर्वक प्रखर प्रतिभाशाली मन्त्रियों के साथ बैठे-बैठे मन में ही उन उपकारों को याद कर रहे थे, जो सेठ सागरवृद्धि ने उन पर किये थे। उनका ध्यान होते ही कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिये एक अच्छा अवसर देखकर मन्त्रियों की सम्मतिपूर्वक सार्थपति के राज्याभिषेक की आज्ञा की।

राजा के उदारतापूर्ण प्रस्ताव को सुनते ही सेठ सागरवृद्धि समझ गये कि बुद्धि के अवतार राजा वरांग का उनके प्रति कितना अधिक अनुग्रह था। परन्तु वे यह भी जानते थे कि वणिक होने के कारण वे राज्यलक्ष्मी के उपयुक्त नहीं थे। इस विचार को ठीक समझकर उन्होंने राजा से कहा—'हे राजन! मेरे वंश में उत्पन्न हुए मेरे किसी भी पूर्वज को राज्याभिषेक कराने का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए मेरे कुल में अनादिकाल

से जो परम्परा चली आयी है, उसे तोड़कर मैं राजा बनूँ, यह मुझे शोभा नहीं देता।'

सार्थपति सागरवृद्धि के बुद्धिमतापूर्ण ऐसे वचन सुनकर राजा वरांग ने आग्रहपूर्वक यही निवेदन किया कि—'हे तात्! आप इस विषय में अधिक कुछ भी न कहें। थोड़ा विचार करें कि जिनका पुत्र सर्वमान्य राजा है, उसके पिता वणिक हैं! इस बात को जगत में जो कोई सुनेगा, वह बहुत हँसेगा। क्या आप यह विचार नहीं करते?' इस प्रकार निवेदन करने के बाद धर्मपिता के विरोध को ध्यान में लिये बिना ही राजाओं की तरह ही उनका भी राज्याभिषेक हुआ। उस समय ही घोषणा कर दी कि श्रीमान् राजा सागरवृद्धि आज से विदर्भनगर के राजा हुए। राजा सागरवृद्धि के ज्येष्ठ पुत्र को आग्रहपूर्वक कौशल का राज्य तथा कनिष्ठ पुत्र को कलिंग देश का राज्य प्रदान किया। महामन्त्री अनन्तसेन को पल्लव देश का राज्य दिया। इस प्रकार सब मन्त्रियों को उनके योग्य देश का शासन सौंप दिया।

राजा वरांग, सुषेण को भी विशाल राज्य देना चाहते थे परन्तु अब उनके पास कोई राज्य ही नहीं रहा था। इसी चिन्ता में बैठे-बैठे अचानक उन्हें वलुकेश्वर की याद आ गयी, जिसने उनके पिता का अपमान किया था। यह अपमान याद आते ही राजा वरांग ने पत्र देकर दूत को वलुकेश्वर के पास भेजा, जिसमें लिखा था कि—'या तो युद्ध कर या तो राज्य छोड़कर वन में चला जा।' यह समाचार सुनते ही मन्त्रियों सहित वलुकेश्वर भी भयभीत हो गया। उसने अपने मन्त्रियों को इस परिस्थिति का मार्ग निकालने के लिये विचार करने को कहा।

मन्त्रियों का मत ऐसा हुआ कि इस परिस्थिति में से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि राजपुत्री मनोहरा को शास्त्रानुकूल विधि से आनर्तपुर नरेश वरांग के साथ विवाह कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वलुकेश्वर भी मन्त्रियों के अभिप्राय में सहमत थे; अत: तद्नुकूल निर्णय करके अपनी पुत्री को लेकर वलुकेश्वर आनर्तपुर पहुँचे और राज्यसभा में पहुँचकर दूर से ही राजा वरांग को देखकर प्रणाम किया और कहा कि—'हे महाराज! जो राज्य मेरे वंश में कितनी पीढ़ियों से चला आ रहा है, उस मेरे राज्य को आप अपनी इच्छा से किसी को भी सौंप दें, परन्तु हे नरनाथ! मैंने आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण करके जो अपराध किया है, उसे क्षमा करें।'

राजा वरांग तो स्वभाव से ही साधु परिणामी थे। उन्होंने अपने शत्रु को क्षमा कर दिया। तत्पश्चात् वलुकेश्वर ने अपनी पुत्री मनोहरा का महाराज वरांग के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया।

तत्पश्चात् राजा वरांग अपने परिवारीजनों के साथ सुख मग्न रहे। एक दिन जब राज्य की टहल मारकर वापिस आ रहे थे, तब उनकी अनुपमा नामक पटरानी ने उन्हें देखा। वह रानी उनके विचारों में मग्न थी। इतनी देर में राजा अचानक उनके पीछे आकर खड़े हो गये। थोड़ी देर बातें की और फिर दोनों ने धर्म की बहुत चर्चा की। महाराज वरांग ने रानी को नन्दीश्वर विधान का महत्त्व समझाया तथा जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा का भी महत्त्व समझाया। उन्होंने कहा कि—**हे भद्रे! जो भव्य जीव**

**विधिपूर्वक जिनबिम्ब की स्थापना करके प्रतिदिन शुद्ध भाव और द्रव्य द्वारा उनका पूजन करते हैं, वे थोड़े ही समय में सर्वज्ञतारूपी फल को प्राप्त करते हैं। संसारचक्र में घूमते हुए जिन जीवों ने अपने पूर्वभवों में वीतराग प्रभु की शुद्ध भाव और द्रव्य से उपासना की थी, वे ही आगे बढ़कर त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर बने थे।**

तत्पश्चात् राजा वरांग ने एक भव्य जिनमन्दिर की स्थापना करायी तथा स्वयं ही जिनप्रतिमा की स्थापना की। यह भव्य उत्सव पूर्ण होने के पश्चात् राजा ने कितने ही दिनों तक किमिच्छक दान प्रदान किया, जिससे उनके राज्य में कोई दु:खी नहीं रहा।

❖ ❖ ❖

आनर्तपुर के अधिपति सम्राट वरांग की समस्त अभिलाषायें ही पूर्ण नहीं हुई थी, अपितु संसार में जितना भी श्रेय था, वह सब अपने आप ही उनकी शरण में पहुँच गया था। वे प्रतिदिन प्रात:काल से सन्ध्या समय तक सत्कार्य तथा पुण्यमय उत्सवों में ही व्यस्त रहते थे। समस्त गुणों की खान सम्राट वरांग, जनता के आदर्श थे तथा उनका पौरुष अनुपम था।

जिनमन्दिर का महोत्सव पूर्ण होने के पश्चात् सम्राट वरांग की पटरानी अनुपमा ने गर्भ धारण किया। नव मास पूर्ण होते ही उसने अति तेजस्वी-कान्तिमान बालसूर्य को जन्म प्रदान किया। भविष्य वक्ताओं ने शास्त्रोक्तविधि से कुण्डली देखकर स्पष्ट विदित किया कि यह बालक भविष्य में विशाल साम्राज्य का एकमात्र भोक्ता होगा। गुरुजनों ने उसका नाम 'सुगात्र' रखा। उसमें पिता से एक भी गुण की कमी नहीं थी, अर्थात् गुणों में पिता-पुत्र

दोनों एक समान थे। अवस्था के हिसाब से वह अभी बालक था परन्तु शील आदि गुणों से वह वृद्ध था।

पटरानी अनुपमा की तरह सम्राट वरांग की अन्य पत्नियों को भी पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। उन सबमें भी समान गुणों की उपलब्धि थी। सम्राट वरांग के सभी पुत्र रूप, शील, पराक्रम आदि में नागकुमार देवों के समान थे।

❖ ❖ ❖

एक दिन की बात है कि सम्राट वरांग अपने महल की छत पर बैठे हुए थे। उस समय उनके तेजस्वी रूप को देखकर इन्द्र का स्मरण हो जाता था। सम्राट उस समय स्वभाव से भी अत्यन्त शान्त थे। उनके चारों ओर उनकी रानियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं। देवराज इन्द्र अपनी राजधानी अल्कापुरी में स्वर्गीय सुन्दर अप्सराओं के साथ जैसे निःशंकरूप से विविध केली तथा विहार करता है, उसी प्रकार सम्राट वरांग भी आनन्दपुरी में अपनी लोकोत्तर रूपवती पत्नियों के साथ रमण करते थे।

शरद ऋतु की रात्रि का वह प्रथम प्रहर था। आकाश बादलों से शून्य था, जिससे वह अनेक प्रकार के अद्‌भुत तारों की आभा से आभासित हो रहा था। ऐसे शान्त वातावरण युक्त आकाश में अकस्मात ही उल्कापात हुआ। उसका प्रकाश चारों ओर व्याप्त हो गया। सम्राट वरांग ने अपनी सुकुमार सुन्दर पत्नियों के साथ वह दृश्य देखा और ऐसा होने पर सम्राट पर ही उस दृश्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें प्रगाढ़ वैराग्य उत्पन्न हो गया।

वे कहने लगे कि—'सुकुमार ज्योतियुक्त तारिकाओं से घिरी हुई यह उल्का जिस प्रकार आकाश में से अकस्मात् ही गिरकर

कहीं लुप्त हो गयी है, उसी प्रकार अनुपम रूपवती इन प्राण प्यारी पत्नियों से घिरा हुआ मैं भी किसी दिन इस राज्यपद से च्युत होकर कौन जानें कहाँ लुप्त हो जाऊँगा।

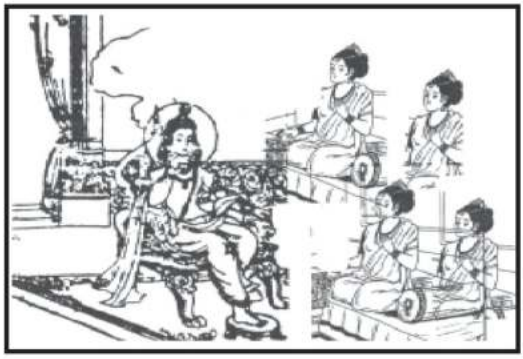

जिस समय मैं उत्तमपुर का युवराज था, तब भी मेरे पास सब कुछ होने पर भी सबके देखते ही देखते वह दुष्ट घोड़ा मुझे अज्ञात जंगल में ले गया और कोई मुझे उससे बचा नहीं सका था। क्या मैं पूर्व जन्म में किये हुए पापकर्मोंरूपी दुर्दम घोड़े पर आरूढ़ होकर आज भी – इस क्षण भी जन्म-मरणरूपी महावन में नहीं घूम रहा? क्या मेरा वास्तविक विवेक नष्ट नहीं हो गया? क्या इस भ्रमण समान आज भी मैं धर्म मार्गरूपी राज्यपद से पुनः भ्रष्ट नहीं हो गया?'

इस प्रकार संसार के अपार तथा भीषण दुःखों का स्मरण करके वे काँप उठे। इन्हीं विचारों में लीन रहकर वे विलास सभा से उठकर अपने एकान्त गृह में चले गये। संसार के विषयभोगों से उन्हें स्थायी विरक्ति उत्पन्न हो गयी। आत्मा के पूर्ण विकास के साधक तत्त्वमार्ग पर पूर्ण आस्था हो गयी। परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बनने का निर्णय वे कर चुके थे, इसलिए जैसे ही वे एकान्त गृह में पहुँचे कि तुरन्त ही जगत के स्वभाव के सम्बन्ध में विचार करने लगे। अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

**जो मनुष्य इस अनुपम मनुष्य पर्याय को इन्द्रियों की तृप्ति करने में ही व्यतीत कर देता है, वह व्यक्ति अगाध, अपार, समुद्र के बीच दो-चार कीलों के लिये अपनी नौका तोड़ डालता है। एक साधारण डोरे के लिये वैडूर्यमणि के हार को तोड़ता है। थोड़ी सी राख के लिये चन्दन के वृक्ष को जलाता है! हाथ में आये हुए अमृत को छोड़कर विष को पीता है।**

मेरी अवस्था भी ऐसी ही होगी, यदि मैं तत्त्वज्ञान से विमुख होकर इस धर्म को छोड़ दूँगा कि जो इसलोक तथा परलोक में सभी सुख देता है तथा उन कर्मों में लीन हो जाऊँगा कि जो निरन्तर प्रत्येक अवस्था में पापबन्धन के कारण हैं। इस समय मुझसे अधिक निन्दनीय दूसरा कौन होगा?

**अनेक दुःखमय पर्यायें व्यतीत करने के पश्चात् यह अमूल्य मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है। सौभाग्य से सुरूप, सुबुद्धि आदि सब प्रशस्त गुण भी मुझमें हैं, तथापि यदि मैं मनुष्य जन्म के साररूप रत्नत्रय को ग्रहण नहीं करता तो मुझसे बड़ा मूर्ख कौन होगा? अभी तक मोह ने मेरे विवेक पर पर्दा डाल दिया था, जिससे धर्ममय आचार-विचारों को मैं भूल गया था। अभी मैं जो-जो पापमय कुकर्म यहाँ कर रहा हूँ, उन-उन कर्मों का कुफल अनेक दुःख तथा अकल्याण के रूप में अनेक जन्मों तक मुझे भोगना पड़ेगा।**

**सांसारिक विषयभोगों में लीन मनुष्य का आयुष्य लम्बा नहीं होता। यह वैभव, सम्पत्ति, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि भी सदा नहीं रहते। जिस प्रकार आकाश में बिजली और बादल लुप्त-नष्ट हो जाते हैं, वैसे मनुष्य भी जो उत्पन्न हुए हैं, एक दिन उनका मरण अवश्य होता है।**

मनुष्य जीवन की अनित्यता जानकर, अत्यन्त अशरणता के रहस्य में बैठकर तथा सभी प्रकार से इसी निष्कर्ष पर आने के बाद कि - जीव को दुःख से कोई भी शक्ति बचा नहीं सकती, तथापि यदि मैं मुनिधर्म अंगीकार न करूँ तो मैं मुझे सभी प्रकार से ठगा हुआ समझना चाहिए। पुत्रों की प्राप्ति होने से भी आत्मा को क्या लाभ होनेवाला है ? क्योंकि वे सब संसाररूपी अंकुरता के महापरिणाम हैं! सम्पत्ति भी क्या सुख देगी कि जो स्वयं ही सब दुःखों का मूल कारण है! जिसके विचारों को मन से निकालना असम्भव है-ऐसी प्राणाधिका पत्नी भी किस काम की ? उसे तो साक्षात् हृदयचोर, घातक शत्रु तथा दारुण सर्प ही समझना चाहिए क्योंकि वह अनेक अपवित्रता का भण्डार है। सगे-सम्बन्धी भी क्या रक्षा करनेवाले हैं ? वे स्वयं ही मनुष्य को जीवित बन्धन हैं, अनेक प्रकार की दुविधाओं को जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं कि जो सरलता से अनेक अनर्थों को उत्पन्न कर देते हैं।

अपने पुरुषार्थ से कमायी हुई सम्पत्ति भी किस काम की है ? वह व्यर्थ में ही असाता के कठोर बन्धन में बाँध देती है, सब ही अनर्थों की ओर प्रेरित करती है, फलस्वरूप संसाररूपी वन में घसीटनेवाले अशुभकर्मों के बन्ध का कारण बनती है। विपुल पुरुषार्थ और पराक्रम से खड़ा किया हुआ राज्य भी परमार्थ सिद्ध नहीं करता, उसके कारण दिन-रात चिन्ता करनी पड़ती है तथा अनेक पाप करने के कारण संसार-परिभ्रमण भी बढ़ता है। विषयभोगों की भी क्या उपयोगिता है ? उनका स्वाद लेने के लिये पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है तो भी कभी तृप्ति नहीं होती। परिणाम आता है चारों गतियों में भ्रमण, कि जो शोक-दुःख से परिपूर्ण है।

**अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप जीवों को इस विस्तृत भुवन में समस्त सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जो इष्ट है, उसकी प्राप्ति नहीं होती; जो अनिष्ट है, वह साथ नहीं छोड़ता। संयोगवश जो इष्ट समागम होता है, उसका भी वियोग हो जाता है तथा अनिष्ट से थोड़ा समय छुटकारा मिलता है तो फिर तुरन्त ही उससे भी दृढ़ उसका ही संयोग हो जाता है। मान का अभाव और पद-पद पर अपमान सामने खड़ा ही होता है।'**

❖ ❖ ❖

सम्राट के हृदय में वैराग्य ने घर कर लिया था; इसलिए उन्होंने तुरन्त ही अपने परम आदरणीय और विश्वस्त सेठ सागरवृद्धि को बुलाया और कहा कि—'हे मान्यवर! मेरे पूज्य पिता महाराज धर्मसेन अपने कर्म से ही मेरे पिता हैं परन्तु आप तो निःस्वार्थ स्नेह के कारण मेरे धर्मपिता का स्थान प्राप्त हुए हो। मैं जब जंगल में भटकता था, तब आपने ही मुझे शरण दी थी और जब भील के साथ युद्ध करके मरणासन्न हुआ, तब आपने ही मुझे बचाया था। आपने मेरे सुख-दुःख को इस प्रकार से ही अनुभव किया है कि जिस प्रकार लोग अपने को समझते हैं। मेरे राज्यप्राप्ति के अवसर पर आपने ही मुझे मुक्त करके राज्यसिंहासन पर बैठा दिया था। इस प्रकार आप मेरे माता-पिता समान ही नहीं, परन्तु हितोपदेशी गुरु भी हैं। आप मेरे परम पूज्य हो, इसलिए मेरा कर्तव्य है कि कुछ भी कार्य करने से पहले आपकी आज्ञा मुझे प्राप्त करनी चाहिए। इसलिए आपको अपनी इच्छा कहता हूँ, यदि आपको योग्य लगे तो मुझे अवश्य सम्मति देना।

हे साधु! आनर्तपुर तथा उससे पहले उत्तमपुर में जिस प्रकार

से आपने मेरा राज्याभिषेक कराया था, उसी प्रकार अब मेरे ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को आनर्तपुर की राज्यलक्ष्मी का स्वामी बनाने की कृपा करो, क्योंकि कुमार सुगात्र राज्यपद के लिये सुयोग्य है। आप भी स्वाभाविक रुचि से विस्तृत साम्राज्य तथा प्रजा के साथ-साथ कुमार सुगात्र का भी अभ्युदय करना। मैं यह आपको इसलिए कहता हूँ कि मुझे लोक के विषयभोगों से विरक्ति हो गयी है। अब तो आप लोगों का आशीर्वाद लेकर मैं तप करूँगा। हे पिताजी! अब मुझे आज्ञा प्रदान करो।'

सम्राट वरांग के वचन सुनकर धर्मपिता को अत्यन्त दु:ख हुआ। इष्ट वियोग की आशंका हो गयी। सेठ ने सम्राट को बहुत प्रकार से समझाया। सांसारिक दृष्टि से वे एकदम सत्य थे परन्तु अपने आत्महित के लिये वह सब असत्य ही था। धर्मपिता के वचन सुनकर सम्राट ने उनके समक्ष संसार का वास्तविक नग्नस्वरूप बतलाया। सेठ सागरबुद्धि ने सम्राट के वचन सुनकर कहा कि—'अभी तक मैंने तुम्हें सब प्रपंचों में साथ दिया है; इसलिए अब यदि मैं तुमसे अलग हो जाऊँ तो वास्तव में मुझसे अधम कोई नहीं है; इसलिए आज भी मैं तुम्हारे ही मार्ग में मेरी शक्तिप्रमाण चलूँगा।'

तत्पश्चात् सम्राट के कहने से सेठ अन्त:पुर में जाकर उनकी समस्त रानियों को उनके निकट बुला लाये। सम्राट ने अपनी समस्त रानियों से क्षमायाचना की और अपनी दीक्षा की भावना उन्हें कह सुनायी। यह सुनते ही सभी रानियाँ जोर-जोर से रोने लगीं तथा उनके मुख कमल तुरन्त ही मुरझा गये। उन्हें सूझता नहीं था कि हमसे ऐसी क्या भूल हो गयी कि सम्राट हमें छोड़कर

वैराग्य धारण करने को तैयार हुए हैं। सम्राट ने अपनी रानियों को भी समझाया। सम्राट के वचन सुनकर उनकी रानियों ने भी उनके साथ दीक्षा लेना निश्चित किया।

तत्पश्चात् सम्राट वरांग, महाराज धर्मसेन के निकट आज्ञा लेने पहुँचे। राजा ने भी यह बात सुनी तो उन्हें भी बहुत दु:ख हुआ। उन्होंने वरांग से कहा—'बेटा! आनर्तपुर और उत्तमपुर का राज्य तेरे आधीन ही है। तू चला जायेगा तो इन दोनों राज्यों का क्या होगा?' उन्होंने यह भी कहा कि—'तप तो बहुत दुष्कर है और तू अभी बालक है। तू कष्ट सहन नहीं कर सकेगा, वृद्धावस्था में तप ग्रहण करना।'

पिता के वचन वरांग ने विनयपूर्वक सुने। तत्पश्चात् सम्राट वरांग ने पिता से कहा कि—'**जब भवन में आग लग जाये, तब समझदार पुरुष बाहर भाग जाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु जो शत्रु होते हैं, वे उन्हें पकड़कर वापिस आग में डाल देते हैं। मैं भी अभी सांसारिक दु:खरूपी ज्वाला में से निकलना चाहता हूँ तो हे महाराज! आप मुझे शत्रु समान फिर से उस ज्वाला में मत डालो।**

**समुद्र के भंवर में निकलकर महाकठिनाई से किनारे पर आये हुए को कोई शत्रु ही फिर से धक्का मारकर वापिस समुद्र में डालता है। दुर्गतिरूपी घातक लहरों से व्याप्त समुद्र में, हे पिताजी! आप मुझे मत फेंको। मैं वैराग्यरूपी अमृत ग्रहण करने जा रहा हूँ, वहाँ आप मुझे राज्यलक्ष्मीरूपी विष ग्रहण करने के लिये मजबूर न करो।**

**कोई शत्रु आक्रमण करके सम्पत्ति छीन लेता है, कोई अपने अंग को काट डालता है तथा कोई मार ही डालता है**

**परन्तु जो पुरुष धर्माचरण में बाधक होता है, वह निर्दय है। क्योंकि वह एक-दो भव नहीं परन्तु सैकड़ों जन्मों के सुख को मिट्टी में मिला देता है।'**

पुत्र के ऐसे वचन सुनकर महाराज धर्मसेन ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि—'हे बेटा! संसार में मनुष्य के प्रारब्धकार्य में अनेक प्रकार से विघ्न खड़ा किया जा सकता है, परन्तु इन सबसे बहुत ही अधिक तथा भव-भवान्तर बिगाड़नेवाली यह बाधा है जो धर्म कार्य में की जावे! यह सब जानने पर भी मैंने तुझे इतना सब कहा, वह मात्र पितृस्नेह के कारण ही कहा है, कि जिसका परिणाम निश्चय से दु:खदायी ही होगा परन्तु तू इन सब वाक्यों पर ध्यान नहीं देना क्योंकि तेरा दृष्टिकोण विशाल है।'

पुरुष सिंह वरांग को सबसे अधिक कठिनता का अनुभव तो तब हुआ कि जब वे अपने माताओं से विदा लेने गये थे, तथापि किसी युक्ति और उपाय से उनसे भी आज्ञा ले ली। सबसे मिलने के पश्चात् अन्त में उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुगात्र को राज्यसभा में बुलाया। उससे सारी बात कही। राज्य में लोकप्रिय, न्यायनीति आदि का उपदेश दिया। तत्पश्चात् सुगात्र का राज्याभिषेक किया गया।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार कुमार सुगात्र का राज्याभिषेक होते ही सम्राट वरांग ने वन की ओर गमन किया। उनके साथ उनकी रानियाँ तथा धर्मपिता भी चले गये। वे चलते-चलते सिद्धाचल पर्वत पर पहुँचे, जहाँ श्री नेमिनाथ भगवान के प्रधान गणधर श्री वरदत्त केवली विराजमान थे। वहाँ पहुँचकर केवली परमात्मा की

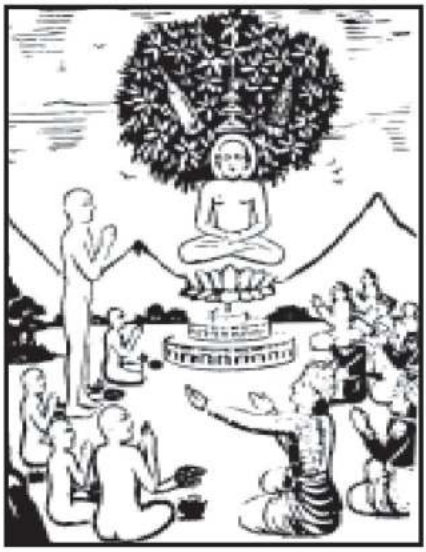

भावभीनी वन्दना आदि करके सम्राट वरांग ने केवली भगवान से प्रार्थना की—'हे सर्वज्ञदेव! तीन लोक के जीवों को आप ही एकमात्र आधार हैं। मैं स्वयं संसार से भयभीत हूँ; इसीलिए उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिये आपकी शरण में आया हूँ। हे ऋषिराज! मुझे कृपा करके उस देश में ले चलो कि जहाँ कुकर्मों की धूल उड़ती ही न हो, जिसमें शान्ति का भंग करके जन्म-मरण के तूफान उड़ते ही न हो।' इस प्रकार, भगवान के निकट प्रार्थना करके, वहाँ उनके समक्ष ही दीक्षा अंगीकार कर ली। उन्हें दीक्षा अंगीकार करते देखकर उनके साथ दूसरे अनेक राजा, उनकी पत्नियाँ, वरांग की पत्नियाँ, सेठ सागरवृद्धि, उनके मन्त्री, उनकी पत्नियाँ इत्यादि अनेकों भव्य जीवों ने भी प्रव्रज्या धारण की।

दीक्षा समारोह समाप्त होने के पश्चात् साथ में आये हुए अन्य राजा तथा नगरवासीजन वरदत्त केवली के दर्शन करके वापिस अपने नगर में चले गये।

❖ ❖ ❖

अब मुनिराज वरांग घोर तप करने लगे। उनके साथ ही दूसरे मुनि भी तप करते थे। राजा वरांग की जिन रानियों ने दीक्षा अंगीकार की थी, वे भी घोर तप करती थीं।

वीरों के मुकुटमणि, सम्राट वरांग ने जिस उत्साह और लगन से आनर्तपुर के विशाल साम्राज्य का परित्याग करके परमशुद्ध निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की थी और मुनि बनकर शुद्ध संयम तथा तप का आचरण किया था, उसी निरपेक्ष भाव तथा शुद्धस्वभाव प्राप्ति के साथ वे देवलोक के मस्तकतुल्य सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पाद शय्या से उत्पन्न हुए। उसमें उत्पन्न होने का तात्पर्य यही है कि आगामी भव में निश्चय से मोक्षप्राप्त करेंगे।

उनके साथ जिन-जिन राजाओं ने दीक्षा लेकर तप किया था, वे तथा सागरवृद्धि सेठ भी स्वर्ग में उत्पन्न हुए। सम्राट वरांग की रानियाँ - जिन्होंने आर्यिका होकर उग्र तप किया था, वे भी स्त्रीलिंग छेदकर देवपर्याय में उत्पन्न हुई।

प्रथम सम्राट वरांग और पश्चात् महर्षि वरांग अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वयंवृत्त वर थे। उनकी कीर्ति विशाल और सर्वव्यापी थी। उनमें विवेक शक्ति भी अपार थी। ऐसे राजर्षि के इस चारित्र को जो व्यक्ति अपने जीवन में उतार लेता है, वह निश्चय से अनुपम पद प्राप्त करता है।